

C.NO-1231

घेरण्ड संहिता

भाषानुवाद संहिता ।

$\Delta 22 \times 3, 1$   
15 E 1, 1



$\Delta 22 \times 3, 1$  1231

15 E 1, 1.

Puri, Ram charan.

Charan 1a samhita.



SHRI JAGADGURU VISHWARADHYA JNANAMANDIR  
(LIBRARY)  
JANGAMAWADIMATH, VARANASI

ANGAMAWADIMATH, VARANASI

1231

15E1;L

• • • • •

Please return this volume on or before the date last stamped  
Overdue volume will be charged 1/- per day.

[illegible]







ॐ श्रीः ॐ

# ❀ घेरण्ड संहिता ❀

सद्धर्म-भास्कर दशनाम-तिलक स्वामि  
रामचरण पुरी शिवसंहिता भाषानुवाद.  
कर्ता द्वारा भाषानुवाद संहिता ।

इयंच

पं० धर्मदत्त त्रिपाठिना

❀ काश्यां ❀

केशव यन्त्रालये मुद्रयित्वा प्रकाश्यं नीता ।

\* सम्बत् १९६८ \*

प्रथम संस्करण २०००

मूल्य १) रुपया

वह पुरतक बमुजिद ऐक्ट रजिस्टरी के प्रकाशक ने छापने  
का अधिकार अपने अधीन रक्खा है ।



Δ22x3,1

15E4;1

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA  
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR  
LIBRARY.

Jangamwadi Math, VARANASI.

Acc. No. ....~~720~~ 1231

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA  
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR  
LIBRARY.  
Jangamwadi Math, VARANASI,  
Acc. No. ....1231





॥ श्रीः ॥

॥ योगतत्वम् ॥

चण्ड-संहिता ।

प्रथमोपदेशः ।

एकदा चण्डकपालिर्गत्वा घेरण्डकुट्टिमम् ।  
प्रणम्य विनयः भक्त्या घेरण्डं परिपृच्छति ॥ १ ॥

पूर्वकालमें एक समय चण्डकापालि नामक एक साधक  
योगाभ्यास सीखने का अभिलाषी था । एकदिन उसने घेरण्ड  
नामक योगीश्वर का आश्रममें पहुँच सविनय और भक्तिके साथ  
प्रणाम कर पूछा ॥ १ ॥

चण्डकापालिरुवाच ।

योगेश्वर ! घटस्थयोगो योगेश तत्त्वज्ञानस्य कारणं ।  
इदानीं श्रोतुं भूच्छामि योगेश्वर वदप्रभो ॥ २ ॥

चण्डकापालि ने प्रार्थनापूर्वक कहा,—हे योगेश्वर ! हे  
प्रभो ! हे योगेश ! मुझे तत्त्वज्ञानका कारणीभूत अर्थात् जिसके  
करनेसे तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है वह घटस्थायोग \* ( देहस्थ-  
योग ) सुनने की इच्छा हुई है; अतएव आप उसे कहिये ॥ २ ॥

\* घट शब्दसे देह का बोध होता है । संहिता में लिखा है,  
CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri



## श्रीधेरण्डउवाच ।

साधुसाधु महाबाहो यस्मात्त्वं परिपृच्छ ।

कथयामि हि ते वत्स सावधानावधान ॥ ३ ॥

श्रीधेरण्डने कहा,—“ हे महाबाहो ! इसकारणसे  
के तुम हमसे योगक्रिया जानने के अभिलषा दुष्ट । तुम्हारा  
प्रश्न सुनकर मैं बहुतही प्रसन्न हूँ, तुम्हें सावधान प्रदान करता  
हूँ । उसे मैं कहता हूँ; सावधान होकर ध्यान करो अर्थात्  
ग्रहण करो ॥ ३ ॥

नास्ति माया समं पाशं नास्ति योऽपि परं बलं ।  
नास्तिज्ञानात् परो बन्धुर्नाहङ्कारात् पारिपुः ॥ ४ ॥

मायाके समान कोई बन्धन नहीं, जान जैसा बन्धु  
नहीं, अहंकार जैसा शत्रु नहीं; और योग सा प्रधान बल  
दूसरा नहीं ॥ ४ ॥

अभ्यासात् कादिवर्णानि यथा शास्त्राणि बोधयेत् ।  
तथा योगं समासाध्य तत्त्वज्ञानञ्च लभ्यते ॥ ५ ॥

जैसे ककारादि सब वर्णोंको सीखनेसे धीरे धीरे सभी  
शास्त्रोंका बोध होता है वैसेही इस योगशास्त्रका अभ्यास  
करनेसे क्रमशः तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

‘प्रणायामनाद विन्दुजीवात्म परमात्मनः । मि  
स्माद्वै घट उच्यते ॥’ अर्थात्—जिसमें प्रण, पान, नादविन्दु,  
जीवात्मा और परमात्मा यह सब एकत्र होते हैं, सेही घट ( देह )  
कहते हैं ॥



सुकृतैर्दुष्कृतैः कार्यैर्जायते प्राणिनां घटः ।

घटादुत्पद्यते कर्म घटियन्त्रं यथा भ्रमेत् ॥ ६ ॥

ऊर्ध्वाधो भ्रमते यद्धद् घटियन्त्रं गवां वसात् ।

तद्धत्कर्मवशाज्जीवो भ्रमते जन्म मृत्युभिः ॥ ७ ॥

अच्छे और बुरे कार्योंके प्रभावसे यह प्राणियोंका घट अर्थात् शरीर उत्पन्न होता है । शरीरसे कर्म उत्पन्न होता है, जैसे घटियन्त्र बेलके द्वारा ऊपर नीचे घूमता है उसी प्रकार कर्मके बश जीव जन्म मृत्यु, रूपसे भ्रमण करता है अर्थात् यह प्राणियोंका अनित्य शरीर शुभाशुभ कर्म द्वाराही उत्पत्ति और नाशको प्राप्त होता है । जबतक कर्मका क्षय न होगा तबतक जन्म मृत्यु रूपी यन्त्रका नाश न होगा । घट अर्थात् शरीरकी शुद्धि उस यन्त्रके नाशका मुख्य कारण है । शरीरकी शुद्धि होनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है तब आत्मज्ञान उत्पन्न होता है और आवागमनसे रहित हो मोक्षपद प्राप्त करता है ।

आमकुम्भ मिवाम्भस्थो जीर्यमाणः सदाघटः ।

योगानलेन संदह्य घट शुद्धिसमाचरेत् ॥ ८ ॥

जीव देह कच्ची मिट्टीसे बने कलस जैसा है, जीवन जल जैसा और योग अग्निके समान है । कच्ची मिट्टीके कलसमें जल भर रखनेसे जैसे वह कलस धीरे धीरे घुलकर लयको प्राप्त होता है, किन्तु अग्नि द्वारा पकानेसे वह स्थायी हो जाता है वैसेही यह सजीव शरीर भी सदा जीर्णता और लयको प्राप्त होता है, सुतरां योगाग्नि द्वारा उसे विशुद्ध करना सब तरहसे उचित है ॥ ८ ॥



## अथ सप्तसाधनं ।

शोधनं दृढता चैव स्थैर्यं धैर्यञ्च लाघवं ।

प्रत्यक्षञ्च निर्लिप्तञ्च घटस्य सप्त साधनं ॥ ६ ॥

योगाभ्यासके अभिलाषीको उचित है के पहले इस शरीर को सप्तसाधन से दृढ़ करके तब योग सीखनेकी इच्छा होना पर सबसे पहले सात प्रकारके अभ्यासमें तत्परहो अर्थात् साधनों द्वारा देहका विशुद्ध करना पड़ता है । शोधन, दृढता स्थैर्य, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष और निर्लिप्त यह सातों देहके सप्तसाधन कहे जाते हैं ।

इति सप्तसाधनं ।

## अथ सप्तसाधन लक्षणं ।

षट्कर्मणा शोधनञ्च आसनेन भवेद्दृढम् ।

मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता ॥ १० ॥

प्राणायामास्त्राघवञ्च ध्यानात् प्रत्यक्षमात्मनि ।

समाधिना निर्लिप्तञ्च मुक्तिरेव न संशयः ॥ ११ ॥

छः कर्मों द्वारा शोधन, आसन द्वारा दृढता, मुद्रा द्वारा स्थिरता, प्रत्याहार द्वारा धैर्य, प्राणायाम द्वारा लाघव, ध्यानद्वारा आत्माका प्रत्यक्ष दशन और समाधि द्वारा निर्लि-



प्तता ( वासना रहित ) उत्पन्न होता है । ऐसे अभ्यास से अन्तमें मुक्तिलाभ करनेमें सन्देह नहीं ॥ १०-११ ॥ \*

## अथ शोधनं ।

धौतिर्वस्तिस्तथा नेति लौलिकीत्राटकं तथा ।

कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत् ॥ १२ ॥

\* आदियामलमें लिखा है, कि यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि यह आठो योगके अङ्ग अर्थात् योगाभ्यास करने के लिये इन आठों की साधना करना उचित है ।

आदियामल में लिखा है,—

ध्यानन्तु द्विविधं प्रोक्तं स्थूल सूक्ष्म विभेदतः ।

स्थूलं मन्त्रमयं विद्धि सूक्ष्मन्तु मन्त्र वर्जितं ॥

अर्थात्—ध्यान दो प्रकार के हैं; एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म । मन्त्रमय ध्यान स्थूल कहा जाता है और मन्त्रवर्जित ध्यान को सूक्ष्म ध्यान कहते हैं । निरुत्तर तन्त्र में लिखा है,—

प्राणायाम द्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः ।

प्रत्याहार द्विषट्केन जायते धारणा शुभा ॥

धारणा द्वादश प्रोक्तं ध्यानं ध्यान विशारदैः ।

ध्यानं द्वादशकैरेव समाधिरभिधीयते ॥

यत् समाधौ परं ज्योतिरन्तरं विश्वतो मुखं ॥

अर्थात्,—बारह बार प्राणायाम करने से एक प्रत्याहार होता है; बारह प्रत्याहार से एक धारणा; बारह धारणा से एक ध्यान और बारह ध्यान से एक समाधि होती है । समाधि का साधन पूरा होने पर हृदय के भीतर विश्वव्यापी परम ज्योति को उदय होता है ।



शोधन छः प्रकार के हैं; धौति, वस्ति, नेति, लौलीकी, त्राटक और कपालभाति । इन धौति आदिक छः प्रकार के कर्मयोगों का साधक आचरण अर्थात् अभ्यास करे ॥१२॥ \*

इति शोधनं ।

अथ धौतिः ।

अन्तर्धौतिं दन्त धौतिर्हृद्घौतिर्मूल शोधनम् ।  
धौतिं चतुर्विधां कृत्वा घटं कुर्वन्तु निर्मलं ॥१३॥

धौति चार प्रकार के हैं; अन्तर्धौति, दन्तधौति, हृद्घौति

\* ग्रहयामल में कहा गया है,—

धौतिश्च गजकरिणी च वस्तिर्लौली नेतिस्तथा ।

कपालभातिश्चैतानि षट्कर्मणि महेश्वरी ॥

कर्मषट्कमिदं गोप्यं घट शोधन कारणम् ।

मेदश्चेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्मणि समाचरेत् ॥

अन्यथा नाचरेत्तानि दोषाणामप्यभावतः ॥

अर्थात्,—धौति, गजकरिणी, वस्ति, लौली, नेति और कपालभाति इसे ही षट्कर्म कहते हैं । इन्हीं छत्रों कर्मों द्वारा शरीर की शुद्धि होती और यह परम गोप्य है । जिस मनुष्य की देह मेद और स्नेहा के आधिक्य से भरी है, वही मनुष्य षट्कर्म का साधन करेगा; उसके अतिरिक्त दूसरे मनुष्य के लिये ऐसा आचरण समुचित नहीं ।



और मूल शोधन । इन चारों धौति द्वारा देह की निर्मलता का साधन करना चाहिये ॥ १३ ॥

इति धौतिः ।

अथ अन्तर्धौतिः ।

वातसारं बारिसारं वह्निसारं वहिष्कृतम् ।

घटस्य निर्मलार्थाय अन्तर्धौतिश्चतुर्विधा ॥ १४ ॥

अन्तर्धौति चार प्रकार के हैं—वातसार, बारिसार, वह्निसार और वहिष्कृत । इन सबसे देह निर्मल होती है ॥ १४ ॥

इति अन्तर्धौतिः ।

अथ वातसारः ।

काकचञ्चुवदास्येन पिवेद्रायुं शनैः शनैः ।

चालयेदुदरं पश्चादूर्ध्वना रेचयेच्चनैः ॥ १५ ॥

अपने दोनों ओंठों को कौंचे की चाँच की तरह बना धीरे धीरे बायु पीकर उसे जठर में (उदर में) घुमाकर फिर मुख द्वारा निकालना चाहिये । इसे वातसार कहते हैं ॥ १५ ॥

वातसारं परं गोप्यं देह निर्मलकारणम् ।

सर्वरोग क्षयकरं देहानल-विवर्द्धकम् ॥ १६ ॥



यह वातसार शरीर की निर्मलता का कारण है । सभी रोग नष्ट होते और जठराग्नि का दीपन होता है । यह बहुत ही गोपनीय है ॥ १६ ॥ \*

## इति वातसारः ।

\* शिवसंहिता में लिखा है,—

काकचञ्च्रा पिवेद्वायुं शीतलम्वा विचक्षणः ।

प्राणापान विधानज्ञः सभवेन्मुक्ति भाजनः ॥

सरसं यः पिवेद्वायुं प्रत्यहं विधिना सुधीः ।

नश्यन्ति योगिनस्तस्य श्रमदाहजरामयाः ॥

काकचञ्च्रा पिवेद्वायुं सन्ध्ययोरुभयोरपि ।

कुण्डलिनी मुखे ध्यात्वा क्षयरोगस्य शान्तये ॥

अहर्निशं पिवेद्योगी काकचञ्च्रा विचक्षणः ।

दूरश्रुतिदूरदृष्टिस्तथा स्यादर्शनं खलु ॥

अर्थात्,—बुद्धिमान् योगी मुंह को कौवे की चोंच की तरह बना उससे शीतल वायु पियें । जो योगी प्राण और अपान नामक दो प्रकार की वायु की विधि जानते हैं, वही मुक्ति पाते हैं । जो योगी प्रतिदिन विधि के अनुसार रसयुक्त वायु पान करते हैं, उन पर श्रम, दाह, जरा, रोग कोई भी आक्रमण कर नहीं सकता । योगी इस प्रकार की चिन्तना करे अर्थात् ध्यान करे कि कुण्डलिनी मुख से वायु पान करती है, प्रातःकाल और सन्ध्या समय कौवे की चोंच जैसे मुख से वायु पियें, ऐसा करने से क्षयरोग का विनाश होता है । इसमें सन्देह नहीं, कि बुद्धिमान् योगी रात दिन कौवे की चोंच जैसे मुख द्वारा वायु पीने से दूरका सुनना और दूर देखने की शक्ति पा सकते हैं ।



## अथ वारिसारः ।

आकण्ठं पूरयेद्वारि वक्त्रेण च पिवेच्छनैः ।

चालयेद्दुदरेणैव चोदराद्रेचयेदधः ॥ १७ ॥

कण्ठ पर्यन्त जल धारे धीरे पीना चाहिये और कुछ देर तक उसे उदर में घुमाकर अन्त में अधोमार्ग द्वारा रेचन करना चाहिये । इसे ही वारिसार तथा शङ्खप्रक्षालन कहते हैं ॥ १७ ॥

वारिसारं परम् गोप्यं देह निर्मल कारकम् ।

साधयेत्तत् प्रयत्नेन देवदेहं प्रपद्यते ॥ १८ ॥

वारिसारं परां धौतिं साधयेद्यः प्रयत्नतः ।

मल देहं शोधयित्वा देवदेहं प्रपद्यते ॥ १९ ॥

इस वारिसार के प्रयोग द्वारा देह की निर्मलता साधित होती है; यह परम गोपनीय है । इससे देव देह मिलती है

\* इस कारण से यन्न के साथ इसका साधन करना चाहिये ।

जो मनुष्य इस श्रेष्ठ वारिसार के धौति का यत्न करके साधन करते हैं, उनकी मलदेह विशुद्ध होकर देवदेह के समान हांती है ॥ १८ ॥ १९ ॥

## इति वारिसारः ।

---

\* देवताओं के सदृश शरीर शुद्ध हो जाता है ।



## अथ अग्निसारः ।

नाभिग्रन्थि मेरुपृष्ठे शतवारश्च कारयेत् ।

अग्निसारमेषा धौतियोगिनां योगसिद्धिदा ।

उदरामयजं त्यक्त्वा जठरामि विवर्द्धयेत् ॥ २० ॥

साँस रोककर नाभिग्रन्थि को मेरुपृष्ठ में एक सौ बार संयुक्त करना चाहिये । अर्थात् इस ही अग्निसारधौति कहते हैं । यह धौति योगिगण को योग सिद्धि प्रदान करती है । इस धौति से उदरामय से उत्पन्न रोग समूह का नाश होकर जठरामि का दीपन होता है ॥ २० ॥

एषा धौतिः परा गोप्या देवानामपि दुर्लभा ।

केवलं धौतिमात्रेण देवदेहं भवेद्भ्रुवम् ॥ २१ ॥

यह धौति परम गोपनीया है । यह सुरगण को भी दुष्प्राप्य है । इस धौतिमात्र से मनुष्यों को देवदेह जैसी देह पाने में सन्देह नहीं ॥ २१ ॥

इति अग्निसारः ।

## अथ वहिष्कृत धौतिः ।

काकीमुद्रां शोधयित्वा पूरयेदुदरं मरुत् ।

धारयेदर्द्धयामन्तु चालयेदधोवर्त्मना ।

एषा धौतिः परा गोप्या न प्रकाश्या कदाचन ॥ २२ ॥



मुंह को कौवे की चाँच के समान लम्बा करके बाहर की वायु को खींचकर उदर को परिपूर्ण करना चाहिये और उस वायु को उदर के भीतर बराबर आधे पहर तक धारण करके अधोमार्ग से निकालना चाहिये, इसे ही वहिष्कृत धौति कहते हैं; यह धौति बहुत ही गोपनीय है ॥ २२ ॥

इति वहिष्कृत धौतिः ।

अथ प्रक्षालनम् ।

नाभि ममो जले स्थित्वा शक्तिनाड़ीं विसर्जयेत् ।  
कराभ्यां क्षालयेन्नाड़ीं यावन्मल विसर्जनम् ।  
तावत् प्रक्षाल्य नाड़ीं च उदरे वेशयेत् पुनः ॥ २३ ॥

इसके उपरान्त नाभि डूबने लायक जल में खड़े होकर शक्ति नाड़ी को बाहर करे, जब तक उसका सब मल निःशेष रूप से न धुले, तब तक हाथ से प्रक्षालन करना चाहिये । अन्त में अच्छी तरह धुल जाने पर फिर उस नाड़ी को उदर के भीतर प्रवेशित कराना चाहिये ॥ २३ ॥

इदं प्रक्षालनं गोप्यं देवानामपि दुर्लभम् !  
केवलं धौतिमात्रेण देवदेहो भवेद्भ्रुवम् ॥ २४ ॥

यह प्रक्षालन देवगण को भी दुष्प्राप्य है; यह बहुत ही गोपनीय है । इस धौति से देवगण जैसी देह पाने में सम्भेद नहीं ॥ २४ ॥

इति प्रक्षालनं ।



अथ वहिष्कृत धौतिप्रयोगः ।

यामार्द्धं धारणां शक्तिं यावन्न साधयेन्नरः ।

वहिष्कृतं महद्धौतिस्तावच्चैव न जायते ॥ २५ ॥

जब तक साधक आधे पहर तक निश्वास के रोकने की धारणा शक्ति का साधन करने में समर्थ न होंगे, तब तक यह वहिष्कृत धौति सिद्ध नहीं हो सकती ॥ २५ ॥

इति वहिष्कृत धौति प्रयोगः ।

अथ दन्त धौतिः ।

दन्तमूलं जिह्वामूलं रन्ध्रञ्च कर्णयुग्मयोः ।

कपालरन्ध्रं पञ्चैते दन्त धौतिं विधीयते ॥ २६ ॥

दन्त धौति पांच प्रकार की है; दन्तमूल धोना, जिह्वा मूल धोना, कान के दोनों रन्ध्र धोना और कपाल रन्ध्र धोना ॥ २६ ॥

इति दन्त धौतिः ।

अथ दन्तमूल धौतिः ।

खादिरेण रसेनाथ मृत्तिकयाच शुद्धया ।

मार्ज्जयेद्दन्तमूलञ्च यावत् किल्बिषमाहरेत् ॥ २७ ॥



खैरके रससे या विशुद्ध मट्टी द्वारा जबतक सब मैल दूर न हों, तबतक दन्तमूलको धोना चाहिये ॥ २७ ॥

दन्तमूलं परा धौतियोंगिनां योगसाधने ।

नित्यं कुर्यात् प्रभातेच दन्तरक्षाय योगवित् ।

दन्तमूलं धावनादिकार्येषु योगिनां मतं ॥ २८ ॥

योगियोंके योगसाधनके विषयमें दाँतोंकी जड़का धोना भी एक प्रधान कार्य्य कहा गया है। योगिवित् साधकको नित्य प्रातःकाल दाँतोंकी रक्षाके लिये इस धौतिका आचरण करना चाहिये। दन्त धावनादिकार्य्यमें दन्तमूलका धोनाही दाँतोंकी रक्षाका कारण है ॥ २८ ॥

इति दन्तमूल धौतिः ।

अथ जिह्वाशोधनं ।

अथातः संप्रवक्ष्यामि जिह्वाशोधनकारणं ।

जरामरणरोगादीन् नाशयेद्दीर्घलम्बिका ॥ २९ ॥

अब जिह्वाशोधनका कारण कहता हूँ। जिह्वामूलके शोधन द्वारा जीभ नड़ी होती है और जरा, मरण तथा रोगादि दूर होते हैं ॥ २९ ॥

अथ जिह्वामूलधौतिप्रयोगः ।

तर्जनीमध्यमानामा अंगुलित्रययोगतः ॥



वेशयेद गलमध्ये तु मार्जयेद्वम्बिकामलं ।  
शनैः शनैर्मार्जयित्वा कफदोषं निवारयेत् ॥ ३० ॥

तर्जनी, मध्यमा और अनामिका इन तीनों उंगलियोंको एक साथ गलेके भीतर प्रवेशितकर जिह्वाके मूलतक मार्जन करना चाहिये । धीरे धीरे इसी प्रकार मार्जन करनेसे श्लेष्मा दोष दूर हो जाता है ॥ ३० ॥

मार्जयेन्नवनीतेन दोहयेच्च पुनः पुनः ।  
तदग्रं लौहयन्त्रेण कर्षयित्वा शनैः शनैः ॥ ३१ ॥

बार बार नवनीत द्वारा जिह्वाका मार्जन और दोहन करना चाहिये तथा लौहयन्त्र द्वारा जिह्वाग्रका धीरे धीरे खींचकर बाहर निकालना चाहिये ॥ ३१ ॥

नित्यं कुर्यात् प्रयत्नेन स्वेरुदयकेऽहस्तके ।  
एवं कृते च नित्ये च लम्बिका दीर्घतां व्रजेत् ॥ ३२ ॥

प्रतिदिन प्रातःकाल और सूर्यास्तके समय यन्त्रके साथ इस धौतिका अभ्यास करना चाहिये । नित्य ऐसा ही आचरण करनेसे जिह्वा बढ़ती है ॥ ३२ ॥ \*

इति जिह्वामूलधौतिप्रयोगः ।

\* जिह्वा शोधनके जो उपाय लिखे गए हैं, वह ठीक हैं, परन्तु यों-गके अन्यग्रन्थोंमें जिह्वाका दोहन चालन और छेदन आदि का उपाय यह दर्शाया है; दोनों हाथोंके अंगूठों और तर्जनी उंगलियों से जिह्वाको जड़से खींचते हुए अग्र भागतक उंगलियोंको लाना चाहिये अर्थात्—



## अथ कर्णधौतिप्रयोगः ।

तर्जन्यनामिका योगान्मार्जयेत् कर्णरन्ध्रयोः ।  
नित्यमभ्यासयोगेन नादान्तरं प्रकाशयेत् ॥३३॥

तर्जनी और अनामिका इन दोनों उंगलियों द्वारा दोनों कर्णरन्ध्रका मार्जन करना चाहिये । प्रतिदिन इसका अभ्यास करनेसे नादान्तर प्रकाशित होता है ॥ ३३ ॥

## इति कर्णधौतिप्रयोगः ।

जिस तरह गोके स्तनको पकड़के दूध दुहा जाता है, उसी प्रकार धीरे धीरे अभ्यास करते करते आधी घड़ीतक दोहन किया करना उचित है और चालन उसको कहते हैं, कि जिह्वाको मुखके भीतर और बाहर बलदेकर कुछ देरतक फिराना चाहिये अर्थात् जिस तरह किसी गो या बैलको दुष्ट अभ्यास पड़जाता है, वह अपने जिह्वाको बाहर भीतर घुमाया करते हैं, उसी प्रकार साधक जिह्वाको चालन करे । छेदनका यह अभिप्राय है, कि जिह्वाके नीचे जो नाड़ी अर्थात् नस हैं, उसको, जिह्वा ऊपर करके नित्य थोड़ा थोड़ा तीक्ष्णशस्त्रसे जो केवल जिह्वा छेदनके लिए बनाया जाता है, छेदन करके त्रिफलाकी बुकनी उसपर मल दे, इससे कटा हुआ घाव अच्छा होजाया करेगा और फिर जुटेगा नहीं । इस छेदन क्रिया और शस्त्रका निर्माणकी गुरुसे साधकको शिक्षा लेना उचित है-जिह्वाके दोहन चालन छेदनसे जिह्वा लम्बायमान होती है तब उसको ब्रह्मरन्ध्रमें पहुँचानेका अधिकार होगा फिर इसके बाद इस क्रियाका नाम खेचरो मुद्रा होगी, इसका विशेष हाल आगे लिखा जायेगा ॥ ३२ ॥



## अथ कपालरन्ध्रप्रयोगः ।

वृद्धांगुष्ठेन दक्षेण मार्जयेद्भालरन्ध्रकं ।  
 एवमभ्यासयोगेन कफदोषं निवारयेत् ॥३४॥  
 नाडी निर्मलतां याति दिव्यदृष्टिः प्रजायते ।  
 निद्रान्ते भोजनान्ते च दिवान्ते च दिने दिने ॥३५॥

नित्य हाथके वृद्धाङ्गुष्ठ द्वारा कपालरन्ध्रका मार्जन करना चाहिये । इस कपालरन्ध्र धौतिका अभ्यास करनेसे श्लेष्मा दोष दूर होता है । नाडी निर्मल होती और दिव्यदृष्टि उत्पन्न होती है । नित्य निद्राके अन्तमें, भोजनके उपरान्त और दिनके अन्तमें इस धौतिका आचरण करना चाहिये ॥३४॥३५॥ \*

## इति कपालरन्ध्रप्रयोगः ।

## अथ हृद्घौतिः ।

हृद्घौतिं त्रिविधां कुर्याद्दण्डवमनवाससा ॥३६॥

दण्डघौति, वसनघौति और वासघौति, यह तीन प्रकारके हृद्घौति कहं गये हैं ॥ ३६ ॥

## इति हृद्घौतिः ।

\* हाथके अंगुठासे कपाल रन्ध्र अर्थात् मुख खोलकर अन्तमें गलेके ऊपर जो कपालमें छिद्र गया है, जलसे धोना चाहिये ॥३५॥



## अथ दण्डधौतिः ।

रम्भादण्डं हरिद्रादण्डं वेत्रदण्डं तथैव च ।

हृन्मध्ये चालयित्वा तु पुनः प्रत्याहरेच्छनैः ॥३७॥

रम्भादण्ड, हरिद्रादण्ड या वेत्रदण्डको हृदयके भीतर बार बार प्रवेशित करा धीरे धीरे बाहर निकालना चाहिये । इससे दण्डधौति कहते हैं ॥ ३७ ॥ \*

कफपित्तं तथा क्लेदं रेचयेदूर्ध्ववर्त्मना ।

दण्डधौतिविधानेन हृद्रोगं नाशयेद्भुवं ॥३८॥

इस दण्डधौतिका आचरण करनेसे ऊर्ध्वमार्ग ( मुख ) द्वारा कफ, पित्त, क्लेद प्रभृति निकलता और इसमें सन्देह नहीं, कि इससे हृदयके रोग दूर होते हैं ॥ ३८ ॥

## इति दण्डधौतिः ।

\* रम्भादण्ड अर्थात् केलेके पत्तेके बीचमें जो मोटा डांठ रहता है, हरिद्रादण्ड अर्थात् हरदीके पत्तेमें भी उसी प्रकार डांठ रहता है और वेत्रदण्ड यह प्रसिद्ध मामूली बेंतको कहते हैं और बटवृक्षके बरोह और कच्चे सूतमें मोमलगाके भी दण्ड बनता है । इसदण्डको ब्रह्मादण्ड वा ब्रह्मादांतुन भी कहते हैं । इसका परिमाण अपने हाथसे एक हाथ चार अंगुल लम्बा और अभ्यासके आरम्भमें कानी अंगुली और अन्तमें अंगुठातक मोटा होना चाहिए । इस दण्डको गलेसे धीरे धीरे पेटमें नाभितक उतारना उचित है । एक हाथ भीतर चलेजानेसे स्वयं नाभितक पहुंच जायगा, उसको दो चार बार थोड़ा थोड़ा भीतर बाहर करके फिर पेटको ऐसा घुमावे, कि वह भीतर घूमजाय तब धीरेसे दण्डको बाहर निकाल लेना चाहिए ॥३७॥



## अथ वमनधौतिः ।

भोजनान्ते पिवेद्वारि आकण्ठपूर्णितं सुधीः ।  
 ऊर्ध्वदृष्टिं क्षणं कृत्वा तज्जलं वमयेत् पुनः ।  
 नित्यमभ्यास योगेन कफपित्तं निवारयेत् ॥ ३६ ॥

भोजनके उपरान्त धीमान् साधकको आकण्ठपूर्ण जल पीना चाहिये । इसके उपरान्त कुछ देरतक ऊपरकी ओर दृष्टि रख वमनकर उस जलका निकालना चाहिये । इसे ही वमनधौति कहते हैं; प्रतिदिन इस धौतिका अभ्यास करनेसे कफ और पित्त विनाश होता है ॥ ३९ ॥ \*

इति वमनधौतिः ।

## अथ वासधौतिः ।

चतुरङ्गुलविस्तारं सूक्ष्मवस्त्रं शनैर्गृसेत् ।  
 पुनः प्रत्याहरेदेतत् प्रोच्यते धौतिकर्मकं ॥ ४० ॥

चारअङ्गुल चौड़ा पतला कपड़ा धीरे धीरे निगलकर फिर उसे निकालना चाहिये । इसे ही वासधौति कहते हैं ॥ ४० ॥

\* वमनधौति भोजनके अन्तमें करना उचित है । भोजन करके तुरन्तही कण्ठतक जल पीकर अन्नसहित वमनकर देना चाहिये इसको वमनधौति कहते हैं ॥ ३९ ॥



गुल्मज्वरप्लीहाकुष्ठं कफपित्तं विनश्यति ।

आरोग्यं बलपुष्टिश्च भवेत्तस्य दिने दिने ॥४१॥

इस वासधौतिका अभ्यास करनेसे गुल्म, ज्वर, प्लीहा, कुष्ठ, कफ पित्त, आदिका विनाश होता और दिन दिन आरोग्य, बल और पुष्टिसाधन होता है ॥ ४१ ॥ \*

इति वासधौतिः ।

अथ मूलशोधनम् ।

अपान क्रूरता तावत् यावन्मूलं न शोधयेत् ।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मूल शोधनमाचरेत् ॥४२॥

जब तक मूल शोधन न हो, अर्थात् गुह्य प्रदेश प्रक्षालित

\* वासधौति आदि जो उपर दृष्टौतिके प्रकरणमें कहा है, उसका फल यह है, कि शरीरमें जो कफ पित्तादि दोष रहते हैं और उन दोषोंसे जो उदरके प्लीहादि रोग होते हैं, दृष्टौतिसे अवश्य उनका नाश होता है और दिन दिन आरोग्यता और शरीरमें पुष्टि व कान्तिवर्द्धनी है, वासधौतिका अभिप्राय यह है कि चार अंगुल चौड़ा और पन्द्रह हाथ लम्बा पतला और चीकना कपड़ा जलसे तर करके धीरे धीरे गुरु उपदेश द्वारा निगल जाना चाहिये फिर उदर में उस को फिराकर धीरे धीरे बाहर निकाल देना चाहिये कपड़ा पन्द्रह हाथ से लेकर बत्तीस हाथतक लम्बा होना चाहिये इसको क्रमशः बढ़ाना उचित है ॥ ४१ ॥



न हो, जब तक अपानकी क्रूरता वर्तमान रहें, अर्थात् गुह्यस्थ वायु कुटिल भाव से अवस्थित रहे, तब तक यत्नके साथ मूल शोधन करना बहुत ही आवश्यकीय है ॥ ४२ ॥ \*

पीतमूलस्य दण्डेन मध्यमाङ्गुलिनापिवा ।

यत्नेनक्षालयेद् गुह्यं वारिणा च पुनः पुनः ॥४३॥

हरिद्रामूल या मध्यमा उंगली द्वारा पानीसे बार बार यत्नके साथ गुह्य प्रक्षालन करना चाहिये ॥ ४३ ॥

वारयेत् कोष्ठकाठिन्यमामाजीर्णं निवारयेत् ।

कारणं कान्तिपुष्प्योश्च दीपनं वह्निमण्डलं ॥४४॥

मूलशोधन द्वारा कोष्ठकी कठिनता और आमार्जाणं विनष्ट होता तथा देहकी कान्ति पुष्टिसाधन और जठराग्नि परिवर्द्धित होती है ॥ ४५ ॥

इति धौतिप्रयोगः ।

अथ वस्ति प्रकरणं ।

जलवस्तिः शुष्कवस्तिर्वस्तिः स्याद्द्विविधास्मृता ।

जलवस्तिं जलेकुर्याच्छुष्कवस्तिं सदाक्षितौ ॥४५॥

वस्ति दो प्रकारके हैं; जलवस्ति और शुष्कवस्ति । जल-

\* अपान वायुकी क्रूरता उस समय तक रहेगी, जबतक मूलशोधन न हो; इसलिये यत्नकरके मूलशोधन अवश्य करना उचित है ॥ ४२ ॥



वस्तिका जलमें और शुष्कवस्तिका स्थलमें साधन करना पड़ता है ॥ ४५ ॥

इति वस्ति प्रकरणः ।

अथ जलवस्तिः ।

नाभिमग्नं जले पासहि है न्यस्तवानुत्कटासनं ।

आकुञ्चनं प्रसारश्च जलवस्तिं समाचरेत् ॥ ४६ ॥

नाभिमग्न जलमें जाकर उत्कट आसनसे बैठ गुह्यदेशको आकुञ्चन और प्रसारण करके जलवस्तिका आचरण करे । इसे ही जलवस्ति कहते हैं ॥ ४६ ॥

प्रमेहश्च उदावर्त्तं क्रूरवायुं निवारयेत् ।

भवेत्स्वच्छन्द देहश्च कामदेवसमो भवेत् ॥ ४७ ॥

जलवस्तिके प्रयोग द्वारा प्रमेह, उदावर्त्त और क्रूरवायु विनाश होती है और साधक स्वस्थशरीर और कामदेवके समान हो सकते हैं ॥ ४७ ॥

वस्तिं पश्चिमोत्तानेन चालयित्वा शनैरघः ।

अश्वनीमुद्रया पायुमाकुञ्चयेत् प्रसारयेत् ॥ ४८ ॥

जलमें पश्चिमोत्तान आसनसे बैठ धीरे धीरे नीचेकी ओर वस्तिकी चालना करना चाहिये और अश्वनीमुद्रा द्वारा



शुद्धका आकुञ्चन और प्रसारण करना चाहिये और ऐसा करनेसे भी जलवस्ति साधित होता है ॥ ४८ ॥ \*

एवमभ्यास योगेनकोष्ठदोषं न विद्यते ।

विबर्द्धयेज्जठराग्निं आमवातं विनाशयेत् ॥ ४९ ॥

जलवस्तिका साधन करनेसे कोष्ठदोष और आमवात दूर होता और उदराग्नि प्रवर्द्धित होती है ॥ ४९ ॥

इति वस्तिप्रकरण ।

अथ नेतियोगः ।

वितस्तिमानं सूक्ष्मसूत्रं नासानाले प्रवेशयेत् ।

मुखाग्निर्गमयेत् पश्चात् प्रोच्यते नेतिकर्मकं ॥ ५० ॥

॥ वितस्तिपरिमित ( वित्तेभरके ) पतले सूतको नासिकाके

\* जलवस्ति किया नाभि तक जलमे उत्कटासन अर्थात् उकुट बैठके करना चाहिये और पश्चिमोत्तानादि आसन से भी प्रथम अभ्यास किया जाता है इसकी सिद्धि मूलद्वारसे मलको पर्यन्त जल चढ़ने सेही होती है और यह जल दो सेरतक चढ़ना चाहिये फिर मल कोषको फिराकर उस मल सहित जलको बाहर करदेना चाहिये उचित है परन्तु यह किया बिना लौली के सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि उत्कटासनसे बैठके लौली करनेसे जल ऊपरको चढ़ता है लौली किया आगे कही जायगी परन्तु यह किया बिनाशुद्ध उपदेश के सिद्ध नहीं हो सकती ॥ ४८ ॥



भीतर प्रवेशित करके फिर उसे मुख द्वारा निकालना चाहिये  
इसे ही नेतिकर्म कहते हैं ॥ ५० ॥

साधनान्नेतिकर्माणि खेचरीसिद्धिमाप्नुयात् ।

कफदोषं विनश्यन्ति दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥ ५१ ॥

नेति कर्मका साधन करनेसे खेचरीसिद्धि होती है; श्ले-  
ष्मादोष विनाश होता और दिव्यदृष्टि होती है ॥ ५१ ॥

इति नेतियोगः ।

अथ लौलिकी योगः ।

अमन्दवेगे तुन्दश्च भ्रामयेदुभपार्श्वयोः ।

सर्वरोगान्निहन्तीह देहानलविवर्द्धनं ॥ ५२ ॥

प्रबल वंगसे जठरको दोनों ओर घुमाना चाहिये ।

\* ग्रहयामलक में लिखा है,—“ सूत्रं वितस्ति मात्रन्तु नासानाले  
प्रवेशयेत् । मुखेन गमयेच्चेष्टा नेतिः स्यात् परमेश्वरी । कपालवेधिनीं  
कण्ठा दिव्यदृष्टिप्रदार्थिनी । य ऊर्ध्वं जायते रोगो न यत्पान्तं च तं  
नेतिः ॥ ” अर्थात् बिन्तैमरका सूत्र नासानाले ( नाकके छेदमें )  
प्रवेशित करते हुए फिर मुख द्वारा बाहर निकालना चाहिये । हे पर-  
मेश्वरि ! इसीका नाम नेतिकर्म है । इस नेतिकर्मके साधनसे  
शिरोरोगादि विनष्ट होते और दिव्यदृष्टि मिलती है । ग्रहयामलक में भी  
लिखा है, किं नेतियोगका साधन करनेसे शिरस्थित दुष्ट श्लेष्मा  
विनाश होता है । इस योगका साधन करनेसे नासिकाछिद्रनिर्मल  
होता श्वास प्रश्वासके समय बड़े ही आनन्दका सञ्चार होता है ॥ ५१ ॥



इसीका नाम लौलिकी योग है। इस लौलिकी योग द्वारा रोगराशि विनाशित होती और देहानल परिवर्द्धित होती है ॥ ५२ ॥ \*

**इति लौलिका योगः ।**

**अथ त्राटकम् ।**

निमेषोन्मेषकं त्यक्त्वा सूक्ष्मलक्ष्यं निरीक्षयेत् ।

यावादश्रूणि पतन्ति त्राटकं प्रोच्यते बुधैः ॥ ५३ ॥

जबतक दोनो आँखोंसे जल न गिरे, तबतक बिना पलक मारे किसी सूक्ष्म द्रव्यकी ओर देखते रहना चाहिये । इसे ही त्राटक योग कहते हैं ॥ ५३ ॥ \*

\* लौलिकी उत्कटासनसे बैठके पेटके भीतर दो मोटी नाड़ी हैं जिनको वेगसे दाहिने और बाँप घुमाना चाहिए इसके घुमानेसे कुण्डलनी जाग्रता होती है तब ज्ञानका उदय होता है और इसको शक्तिचालन भी कहते हैं यदि दो घड़ी पर्यन्त शक्तिचालनका अभ्यास हो जाय तो विचित्र योगबल शरीरमें उत्पन्न होगा और वस्ति व शङ्खप्रचालन क्रिया स्वतः सिद्ध हो जायगी और शरीरमें कान्ति व आरोग्यता प्राप्त होगी । इस शक्तिचालनकी प्रशंसा शिवजीने शिव संहिता नामक योगके ग्रन्थमें किया है । यह क्रिया गुरुके उपदेश द्वारा अवश्य जानने योग्य है ॥ ५२ ॥

\* भगवान् दत्तात्रेयकी संहितामें लिखा है, कि जबतक आँसू न गिरे, तबतक सूक्ष्म द्रव्यकी ओर स्थिरनयनसे देखते रहना चाहिए इसेही त्राटक कहते हैं । यह योग बहुतही गोपनीय है । जैसे,—“यस्तस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटक पोठिका” ॥ ५३ ॥



एवमभ्यास योगेन शाम्भवी जायते ध्रुवं ।  
नेत्ररोगाः विनश्यन्ति दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥५४॥

त्राटक योगका अभ्यास करनेसे शाम्भवी मुदाकी सिद्धि होती और नेत्ररोग विनष्ट होता है तथा दिव्य दृष्टि उत्पन्न होती है ॥ ५४ ॥

इति त्राटकम्

अथ कपालभातिः

वातक्रमेण व्युत्क्रमेण शीतक्रमेण विशेषतः ।  
भालभातिं त्रिधा कुर्यात् कफदोषं निवारयेत् ॥५५॥

कपाल भाति तीन प्रकारकी हैं, वातक्रम कपाल भाति, व्युत्क्रम कपाल भाति और शीतक्रम कपाल भाति । कपाल भाति योगके साधन द्वारा श्लेष्माका दोष विनाशित होता है ॥५५॥

इति कपालभातिः

अथ वातक्रमकपालभातिः ।

ईड्या पूरयेद्रायुं रेचयेत् पिङ्गला पुनः ।  
पिङ्गलया पूरयित्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ॥५६॥  
पूरकं रेचकं कृत्वा वेगेन न तु चालयेत् ।  
एवमभ्यासयोगेन कफदोषं निवारयेत् ॥५७॥



ईड़ा अर्थात् वामनासा द्वारा वायुको पूरित करते हुए  
पिङ्गला अर्थात् दक्षिण नासा द्वारा उसका रेचन करना  
चाहिये और दक्षिण नासा द्वारा वायु पूरणकर वामनासा  
द्वारा बाहर निकालना चाहिये । जिस समय वायु पूरण  
करना या जिस समय रेचन करना, तो उस समय कभी वायुका  
रेचन शीघ्रतासे न करना चाहिये । इस योगका साधन करनेसे  
कफदोष दूर होता है । इसे ही वातक्रम कपाल भाति  
कहते हैं ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

इति वातक्रमकपालभातिः ।

अथ व्युत्क्रमकपालभातिः ।

नासाभ्यां जलमाकृष्य पुनर्वक्त्रेण रेचयेत् ।  
प्रायं पायं व्युत्क्रमेण श्लेष्मादोषं निवारयेत् ॥ ५८ ॥

दानी नाकसे जल खींचकर फिर मुख द्वारा बाहर  
निकालना और मुख द्वारा जल ग्रहणकर दोनों नाकसे  
निकालना चाहिये । इसे ही व्युत्क्रमकपालभाति कहते  
हैं । इससे कफदोष विनाशित होता है ॥ ५८ ॥

इति व्युत्क्रमकपालभातिः ।

अथ शीत्क्रमकपालभातिः ।

शीत्कृत्य पीत्वा वक्त्रेण नासानालैर्विरेचयेत् ।  
एवमभ्यासयोगेन कामदेवसमो भवेत् ॥ ५९ ॥



न जायते वार्द्धक्यञ्च जरा नैव प्रजायते ।

भवेत् स्वच्छन्ददेहश्च कफदोषं निवारयेत् ॥६०॥

मुखसे खीचकर जल ग्रहणकर उसमें नाककी छेदसे बाहर निकलना चाहिये । इस ही शीतक्रमकपालभाति कहते हैं ।

इस योगका अभ्यास करनेसे कन्दर्प जैसा कान्तिमान् हो सकता है । इसके अभ्याससे जराके हाथसे छुटकारा होता और देह स्वस्थ होती तथा श्लेष्मादोष विनष्ट होता है ॥ ६९ ॥ ६० ॥

इति कपालभातिः ।

॥ प्रथमोपदेशः समाप्तम् ॥





॥ श्रीः ॥

## ॥ द्वितीयोपदेशः ॥

✽ अथ आसनानि ✽

श्रीधेरण्ड-उवाच ।

आसनानि समस्तानि यावन्तो जीवजन्तवः ।  
चतुरशीतिलक्षाणि शिवेन कथितं पुरा ॥ १ ॥  
तेषां मध्ये विशिष्टानि षोडशानां शतं कृतं ।  
तेषां मध्ये मर्त्यलोके द्वाविंशदासनं शुभं ॥ २ ॥

श्रीधेरण्डने कहा, पृथिवीमें जितने प्राणियोंकी संख्या है, उतने ही आसन भी समझना चाहिये । पहले देव देव सदाशिवने चौरासी लाख आसन कहे । उनमें चौरासी आसन ही सबसे श्रेष्ठ हैं; उसपर इन चौरासीमें भी मनुष्यगण बत्तीस आसनोंको ही कल्याणप्रद बताते हैं ॥ १-२ ॥

अथ आसनानां भेदाः ।

सिद्धं पद्मं तथा भद्रं मुक्तं वज्रञ्च स्वस्तिकं ।  
सिंहञ्च, गोमुखं वीरं धनुरासन मेव च ॥ ३ ॥  
मृतं गुप्तं तथा मातृस्यं मत्स्येन्द्रासनमेव च ।  
गोरक्षं पश्चिमोत्तानं उत्कटं सङ्कटं तथा ॥ ४ ॥  
मयूरं कुक्कुटं कूर्मं तथा चोत्तानकूर्मकं ।



उत्तानमण्डूकं वृक्षं मण्डूकं गरुडं वृषं ॥ ५ ॥  
 शलभं मकरं उष्ट्रं भुजङ्गञ्च योगासनं ।  
 द्वात्रिंशदासनानि तु मर्त्यलोके च सिद्धिदं ॥ ६ ॥

सिद्धासन, पद्मासन, भद्रासन, मुक्तासन, बज्रासन, स्व-  
 स्तिकासन, सिंहासन, गोमुखासन, वीरासन, धनुरासन, मृता-  
 सन, गुप्तासन, मत्स्यासन, मत्स्येन्द्रासन, गोरक्षासन, पश्चिमो-  
 चानासन, उत्कटासन, सङ्कटासन, मयूरासन, कुक्कुटासन,  
 कूर्मासन, उत्तानकूर्मासन, उत्तानमण्डूकासन, वृक्षासन,  
 मण्डूकासन, गरुडासन. वृषासन, शलभासन, मकरासन, उष्ट्रा-  
 सन, भुजङ्गासन, और योगासन; मर्त्यलोकमें यह बत्तीस  
 आसन ही कल्याणप्रद हैं ॥ ३ ॥ ६ ॥ \*

अथ आसनानां प्रयोगानि ।

अथ सिद्धासनं ।

योनिस्थानकमङ्घ्रिमूलघटितं संपीड्य गुल्फेतरं ।  
 मेढ्रे संप्रणिधाय एवचिबुकं कृत्वा हृदि प्यायिनम् ॥ ७ ॥

\* शिव-संहितामें लिखा है,—“चतुरशीत्यासनानि सन्ति नाना-  
 विधानि च । तेभ्यश्चतुष्कमादाय मयोक्तानि ब्रवीम्यहं । सिद्धासनं  
 यथा पद्मासनञ्चो प्रज्ञ स्वस्तिकम् । ” अर्थात्,—आसन कितने ही  
 प्रकारके हैं, उनमें चौरासी प्रधान हैं । उन चौरासियोंमें चार सबसे  
 श्रेष्ठ हैं । हे पार्वति ! उन चारोंको मैं कहता हूं, यथा,—सिद्धासन,  
 पद्मासन, उद्गासन और स्वस्तिकासन ॥ ३-६ ॥



स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽवलदृशा पश्यन् भुवोरन्तरं ।  
एवं मोक्षं विधायते फलकरं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥८॥

जितेन्द्रिय साधक पैरकी ऐड़ी द्वारा योनिदेशको संपीड-  
नकर दूसरी ऐड़ी उपस्थपर रख चिबुकको हृदयके ऊपर  
रखें । इसके उपरान्त स्थिर और अचक्र हो एक दृष्टिसे दोनों  
भोंके मध्यस्थानको देखें । इसीका नाम सिद्धासन है । इस  
आसनके अभ्याससे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ७ ॥ ८ ॥ \*

\* तन्त्रान्तरमें लिखा है,—“ये नाभ्यासवशाच्छीघ्रं योगनिष्पत्ति-  
माप्नुयात् । सिद्धासनं सदा सेव्यं पवनाभ्यासिभिः परं । येन संसार  
मुत्सृज्य लभ्यते परमां गतिः । नातः परतरं गुह्यमासनं विद्यते  
भुवि ॥ ” अर्थात्,—सिद्धासनका अभ्यास करनेसे शीघ्र सिद्धि  
मिलती है । इसकी अपेक्षा और गुप्तासन इस धरणीतलमें विद्यमान  
नहीं । इसके द्वारा संसारसे पार हो परमांगति पाई जा सकती है ।  
पवनाभ्यासी योगीको इस आसनका अभ्यास करना सर्वथा कर्तव्य  
है । यह सिद्धासन और प्रकारसे भी हो सकता है । जैसे,—

योनिं संपीड्य यत्नेन पादमूलेन साधकः ।

मेढ्रोपरि पादमूलं विन्यसेत् योगवित् सदा ॥

उर्ध्वं निरीक्ष्य भ्रमघ्नं निश्चलो नियतेन्द्रियः ।

विशेषे ऋजुकायश्च निरुद्वेगश्च निर्जने ।

एतत् सिद्धासनं प्रोक्तं सिद्धानाञ्च शुभप्रदं ॥ ”

अर्थात्,—योगवित् साधक एक चरणके मूलद्वारा यत्नके साथ  
योनिको आपीड़नकर लिङ्गपर दूसरा चरणमूल रख ऊर्ध्वनयनसे  
ऋजुगलके मध्यभागमें देखें । उस समय उद्वेगशून्य नियतेन्द्रिय  
और सरलदेह होना चाहिये । इसे ही सिद्धासन कहते हैं । यह आ-  
सन योगियोंके लिये कल्याणप्रद है ॥ ७-८ ॥



## अथ पद्मासन ।

वामोरूपरि दक्षिणंहि चरणं संस्थाप्य वामं तथा ।  
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना कृत्वा कराभ्यां दृढ़ं ॥ ६ ॥  
अंगुष्ठे हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेत् ।  
एतद्व्याधि विनाशकारणपरं पद्मासनं चोच्यते ॥ १० ॥

दाहिना पैर बायें ऊरूके ऊपर और बायां पैर दाहिने  
ऊरूपर स्थापनकर दोनों हाथों द्वारा दोनों चरणकी वृद्धांगुली  
को दृढ़रूपसे पकड़के चिबुक अर्थात् ठोड़ीको हृदय पर  
स्थापितकर नाकके अगले भागको देखें । इसका ही नाम  
पद्मासन है । इस आसनका अभ्यास करनेसे सभी व्याधियाँ  
दूर जाती हैं ॥ ९ ॥ १० ॥ \*

## इति पद्मासनं ।

## अथ भद्रासनं ।

गुल्फौ च वृषणस्याधो व्युत्क्रमेण समाहितः ।  
पादांगुष्ठे कराभ्याञ्च धृत्वा च पृष्ठदेशतः ॥ ११ ॥  
जालन्धरं समासाद्य नासाग्रमवलोकयेत् ।  
भद्रासनं भवेदेतत् सर्वव्याधि विनाशकम् ॥ १२ ॥

दोनों एड़ी कोंधके नीचे विपरीतभावसे विन्यस्तकर  
पीठकी आरसें दोनों हाथोंसे दोनों चरणोंके अंगुठोंको पकड़ें

\* इस आसनका अभ्यास करनेसे प्राणवायु नाड़ी रन्ध्रमें सम-  
भावसे प्रवाहित होता है ॥ ९-१० ॥



जालन्धरको बांध नासिकाके अग्रभागको देखना चाहिये ।  
इसे ही भद्रासन कहते हैं; इस आसनका अभ्यास करनेसे  
रोगराशिका विनाश होता है ॥ ११ ॥ १२ ॥

इति भद्रासन ।

अथ मुक्तासनं ।

पायुमूले वाम गुल्फं दक्षगुल्फं तथोपरि ।  
शिरोग्रीवासमं कायं मुक्तासनन्तु सिद्धिदं ॥ १३ ॥

वाम एङ्गोको पायुके मूलमें विन्यस्त करते हुए उसपर  
दक्षिण एङ्गोको विन्यस्तकर शिर और गरदनको समभावसे  
रख ऋजुकायसे बैठें; इसे मुक्तासन कहते हैं; यह आसन  
साधकगणकी सिद्धिका विधान करता है ॥ १३ ॥

इति मुक्तासनं ।

अथ वज्रासनं ।

जङ्घाभ्यां वज्रवत् कृत्वा गुदपार्श्वे पदावुभौ ।  
वज्रासनं भवेदेतत् योगिनां सिद्धिदायकं ॥ १४ ॥

जंघाद्वयको ( पेडुरी ) वज्राकृति करते हुए गुह्यकी दोनों  
ओर पादद्वय विन्यस्त करनेसे ही वज्रासन साधित होता है ।  
यह आसन योगियोंको सिद्धिप्रदान करता है ॥ १४ ॥

इति वज्रासनं !



## अथ स्वस्तिकासनं ।

जानूब्वोरन्तरे कृत्वा योगी पादतले उभे ।

ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत् प्रचक्ष्यते ॥ १५ ॥

दोनों पैड़री और दोनों ऊरूके मध्यदेशमें दोनों पैरके तलवोंको विन्यस्तकर त्रिकोणाकार आसन बांध ऋजुभावसे समासीन होना चाहिये । इसे ही स्वस्तिकासन कहते हैं ॥ १५ ॥ \*

इति स्वस्तिकासनं ।

## अथ सिंहासनं ।

गुल्फौ च वृषणस्याधो व्युत्क्रमेणोर्ध्वतां गतः ।

चितिमूलो भूमिसंस्थः कृत्वा च जानुनोपरि ॥ १६ ॥

\* संहितान्तरमें लिखा है,—“जानूब्वोरन्तरे सम्यग् धृत्वा पाद-  
तले उभे । ऋजुकायः सुखासीनः स्वस्तिकं तत् प्रचक्ष्यते । अनेन  
विधिना योगी साधयेत् मारुतं सुधीः । देहे न क्रमते व्याधिस्तस्य  
वायुश्च सिद्धति । स्वस्तिकं योगिभिर्गोप्यं सुस्थीकरणमुत्तमम् ।”  
अर्थात् जानु और ऊरूके अन्तरालमें सम्यक् रूपसे पैरके दोनों तलवों-  
स्थापितकर ऋजुभावसे सुखासीन होनेसे ही स्वस्तिकासन साधित  
होता है । इस आसनका साधन करनेसे सभी व्याधियां विनष्ट होती  
और प्राणायामका सिद्धि होती है इसका साधन करनेसे देहका  
स्वास्थ्योत्पादन होता है, यह योगियोंके लिये बहुत ही गोपनीय है ।



व्यक्तवक्तो जलन्ध्रश्च नासाग्रमवलोकयेत् ।

सिंहासनं भवेदेतत् सर्वव्याधि विनाशकं ॥ १७ ॥

॥ दोनों एड़ियोंको अण्डकोषके नीचे परस्पर व्युत्क्रम भावसे ( उलटें भावसे ) रख ऊपरकी ओर बाहर करते हुए दोनों घुटनोंको भूतलमें लगाना चाहिये और घुटनोंके ऊपर मुखको सम्पूर्ण खोलकर ऊंचा करते हुए जलन्ध्रवन्धका आश्रयकर नासिकाके अग्रभागको देखना चाहिये; इसे सिंहासन कहते हैं । इस आसनसे सब व्याधियां दूर होती हैं ॥ १६—१७ ॥

इति सिंहासनं ।

अथ गोमुखआसनं ।

पादौ च भूमौ संस्थाप्य पृष्ठ पार्श्वे निवेशयेत् ।

स्थिरकायं समासाद्य गोमुखं गोमुखाकृतिः ॥ १८ ॥

जमीनमें दोनों पैरोंको संस्थापितकर पीठके दोनों तरफ बाहर निकालकर स्थिर करना और ऋजुभावसे गोमुखकी

\* गलेकी नाड़ीयोंको बांधकर अर्थात् संकुचितकर हृदयमें चिबुकको संस्थापित करना चाहिये । इसे ही जलन्ध्रवन्ध कहते हैं, जैसे, “कञ्चूरा गलशिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत् ।”

वन्धो जलन्ध्रश्च प्रोक्तो देवात्तामपि दुर्लभः ॥



तरह उन्नतमुख हो समासीन होना चाहिये। इसे ही गोमुखासन कहते हैं ॥ १८ ॥

इति गोमुखासनं ।

अथ वीरासनं ।

एकपादमथैकस्मिन् विन्यसेदूरुसंस्थितं ।  
इतरस्मिंस्तथा पश्चाद्बीरासनमितीरितं ॥ १९ ॥

एक जांवपर एक पैर रख दूसरे पैरको पीछेकी ओर रखनेसे वीरासन होता है ॥ १९ ॥

इति वीरासनं ।

अथ धनुरासनं ।

प्रसार्य पादौ भूवि दण्डरूपौ,  
करौच पृष्ठे धृतपादयुग्मम् ।  
कृत्वा धनुरुल्यपरिवर्त्तिताङ्गं,  
निगद्ययोगी धनुरासनं तत् ॥ २० ॥

दोनों पैर जमीनपर सीधा समानभावसे प्रसारित करते हुए पीठकी ओरसे दोनों हाथोंसे दोनों पैरोंको पकड़ना चाहिये और देहको धनुषकी तरह टेढ़ा करना चाहिये । यागिगण इसे ही धनुरासन कहते हैं ॥ २० ॥

इति धनुरासनं ।



अथ मृतासनं ।

उत्तानशववद्भूमौ शयानन्तु शवासनं ।  
शवासनं श्रमहरं चित्तविश्रान्तिकारणं ॥ २१ ॥

मरे हुए मनुष्यकी तरह जमीन पर सोनेको ही मृतासन कहते हैं; इसीका नाम शवासन है । यह आसन श्रमविनाश और चित्तविश्रामका कारण बताया जाता है ॥ २१ ॥

॥ ३१ ॥ इति मृतासनं ।

अथ गुप्तासनं ।

जानुनोरन्तरे पादौ कृत्वा पादौ च गोपयेत् ।  
पादोपरि च संस्थाप्य गुदं गुप्तासनं विदुः ॥ २२ ॥

दोनों घुटनोंके मध्यस्थलमें चरणयुगलको गुप्तभावसे विन्यस्तकर दोनों पैरके ऊपर गुह्यदेश रखना चाहिये । इसे ही गुप्तासन कहा जाता है ॥ २२ ॥

इति गुप्तासनं ।

अथ मत्स्यासनं ।

मुक्तपद्मासनं कृत्वा उत्तानशयनञ्चरेत् ।  
कूपरीभ्यां शिरो वेष्ट्य मत्स्यासनन्तुरोगहा ॥ २३ ॥



मुक्तपद्मासन लगाके दोनों हाथोंकी कुट्टनियोंसे शिर परिवेष्टनकर चित्त होकर सोना चाहिये, यही मत्स्यासन कहा जाता है। यह आसन समस्त रोगोंको विनाश करता है ॥ २३ ॥

इति मत्स्यासनम् ।

अथ पश्चिमोत्तानासनम् ।

प्रसार्य पादौ भूविदण्ड रूपौ,  
संन्यस्तभालश्चित्तिथुगममध्ये ।  
यत्नेन पादौ च धृतौ कराभ्यां,  
योगीन्द्रपीठं पश्चिमोत्तान माहुः ॥ २४ ॥

दोनों पैरको जमीनमें दण्डवत् अर्थात् सीधा पैर करके दोनों हाथोंसे यत्नके साथ उन दोनों पैरोंको पकड़कर दोनों घुटनोंके बीचमें शिरको लगाके स्थिर करना चाहिये। इसेही पश्चिमोत्तान आसन कहते हैं ॥ २४ ॥ \*

इति पश्चिमोत्तानासनम् ।

\* इस पश्चिमोत्तानासनको ही संहितान्तरमें उग्रासन कहते हैं। शास्त्रान्तरमें इस आसनका बांधना जिस प्रकारका कहा गया है, वह यहाँ उद्धृत किया जाता है,—

“विस्तार्य पादयुगलं परस्परमसंयुतं ।

स्वहस्ताभ्यां दृढं धृत्वा जानूपरि शिरो न्यसेत् ।

उग्रासनमिदं प्रोक्तं भवेदनिलदीपनं ।

देहावसादनाशनं पश्चिमोत्तान संज्ञकं ॥—



## अथ मत्स्येन्द्रासनम् ।

उदरं पश्चिमाभासं कृत्वा तिष्ठति यत्नतः ।

नम्राङ्गवामपादंहि दक्षजानूपरिन्यसेत् ॥ २५ ॥

तत्रयाम्यं कूर्परञ्च याम्यंकरे च वक्त्रकं ।

भ्रूवोर्मध्ये गतां दृष्टिं पीठं मात्स्येन्द्रमुच्यते ॥ २६ ॥

य एतदासनं श्रेष्ठं प्रत्यहं साधयेत् सुधीः ।

वायुः पश्चिममार्गेण तस्यचरति निश्चितं ।

एतदभ्यासिकानाञ्च सर्वसिद्धिश्च जायते ।

तस्माद्योगी यत्नतो वै साधयेत् सिद्धिसाधकः ।

गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित् ।

येन शीघ्रं मरुत्सिद्धिर्भवेद्दुःखौघहारिणी ॥ ”

अर्थात्,—दोनों पैरोंको परस्पर एक दूसरेको असंयुक्त भावसे फलाकर उसे दोनों हाथोंसे दृढ़ पकड़ना चाहिये । अपने शिरोदेशको जानुद्वयके भीतर विन्यस्त करना चाहिये । इसे ही उग्रासन कहते हैं । इस आसनके अभ्याससे जठराग्नि परिवर्द्धित होती और देहकी अवसन्नता दूर होती है । इसे ही पश्चिमोत्तान आसन कहते हैं । जो धीमान् साधक नित्य इस आसनका अभ्यास करते हैं । उनकी देहकी वायु पश्चिम पथकी ओर प्रवाहित होती है । इसका अभ्यास करनेसे सब सिद्धियां उत्पन्न होती हैं । अतएव योगियोंको यत्नके साथ इसका साधन करना चाहिये । यह बहुत ही गोपनीय है, लोगोंपर इसका प्रकाशित करना उचित नहीं । इससे वायुसिद्धि ( प्राणायामसिद्धि ) होती और वह सिद्धि दुःखराशिको विदूरित करती है ।



पेटको पीठकी तरफ खींचकर ऋजुभावसे रख यत्नके साथ बैठ और बायें पैरको मोड़कर दाहिने जानुपर संस्थापित करना चाहिये और उसपर दाहिनी कुट्टनी रखकर दाहिने हाथपर मुखको स्थापितकर दोनों भौंहके मध्यस्थलको देखना चाहिये इसका नाम मत्स्येन्द्रासन है ॥ २५-२६ ॥

इति मत्स्येन्द्रासनम् ।

अथ गोरक्षासनम् ।

जानूव्वोरन्तरे पादौ उत्तानाव्यक्तसंस्थितौ ।  
गुल्फौ चाच्छाद्य हस्ताभ्यामुत्तानाभ्यांप्रयत्नतः ॥ २७ ॥  
कण्ठ सङ्कोचनं कृत्वा नासाग्रमवलोकयेत् ।  
गोरक्षासन मित्याह योगिनां सिद्धिकाणं ॥ २८ ॥

जानुद्वय और ऊरुके बीचमें दोनों चरण उत्तानकर उसे गुप्त भावसे संस्थापित करते हुए दोनों हाथोंसे दोनों एड़ियोंको समावृत करना चाहिये । इसके उपरान्त कण्ठ सङ्कोचनकर नासिकाके अगले भागको देखना चाहिये । इसीका नाम गोरक्षासन है । इस आसनको योगियोंकी सिद्धिकार कारण समझना चाहिये ॥ २७-२८ ॥

इति गोरक्षासनम् ।



## अथ उत्कटासनम् ।

अङ्गुष्ठाभ्यामवष्टभ्य घ्रां गुल्फे च खे गतौ ।

तत्रोपरि गुदन्यस्य विज्ञेयमुत्कटासनं ॥ २६ ॥

पैरके दोनों अंगुठोंके बल जमीनपर बैठकर दोनों एङ्गियोंको निरालम्बभावसे ऊपरको उठाके उन दोनों एङ्गियोंपर गुह्यदेशको स्थित करना चाहिये । इसीका नाम उत्कटासन है ।

इति उत्कटासनम् ।

## अथ संकटासनम् ।

बामपादं चितेर्मूलं संन्यस्यधरणीतले ।

पाददण्डेन याम्येन वेष्टयेद्बामपादकं ।

जानुयुग्मे करौयुग्ममेतत्तुसङ्कटमासनं ॥ ३० ॥

बायाँ पैर और बायाँ घुटना जमीनपर रख दाहिने पैरसे बायें पैरको परिवेष्टितकर दोनों घुटनोंपर दोनों हाथ स्थित करना चाहिये । इसेही सङ्कटासन कहते हैं ॥ ३० ॥

इति सङ्कटासनम् ।

## अथ मयूरासनम् ।

घ्रामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्यां

तत् कूर्परे स्थापितनाभिपार्श्व ।



उच्चासनो दण्डव दुत्थितः स्वे,  
मायूरमेतत् प्रवदन्ति पीठं ॥ ३१ ॥

दोनों हाथकी हथेलियोंको जमीनपर टेककर दोनों केह-  
नियोंका ऊपरीभाग नाभिकी दोनों ओर स्थितकर मुक्त पद्मा-  
सन भावसे शून्यमें उठना चाहिये, इसीका नाम मयूरासन है ॥ ३१ ॥

इति मयूरासनम् ।

अथ कुक्कुटासनम् ।

पद्मासनं समासाद्य जानूव्वोरंतरे करौ ।  
कूर्पराभ्यां समासीनो मञ्चस्थः कुक्कुटासनं ॥ ३२ ॥

मुक्त पद्मासन करके दोनों घुटना और उरूके बीचमेंसे  
दोनों हाथोंको नीचे निकालकर उन्ही हाथोंके सहारे जमीन-  
पर स्थिर हो दोनों कुहनियोंपर मचानके समान बैठना चाहिये  
इसको ही कुक्कुटासन कहते हैं ॥ ३२ ॥

इति कुक्कुटासनम् ।

अथ कूर्मासनम् ।

गुल्फौच वृषणस्याधौ व्युत्क्रमेण समाहितौ ।  
ऋजुकाय शिरोग्रीवं कूर्मासनमितीरितं ॥ ३३ ॥

कोषके नीचे दोनों एड़ियोंको विपरीत भावसे संस्थापित



करते हुए शिर, ग्रीवा और देहको सीधी करके समासीन होना चाहिये । इसीका नाम कूर्मासन है ॥ ३३ ॥

इति कूर्मासनम् ।

अथ उत्तानकूर्मासनम् ।

कुक्कुटासनवन्धस्थं कराभ्यां धृतकंधरं ।

पीठं कूर्मावदुत्तानमेतदुत्तानकूर्मकं ॥ ३४ ॥

कुक्कुटासन बांधकर दोनों हाथसे कन्धेको पकड़ कूर्मकी तरह उत्तानभावसे अवस्थित होना चाहिये । इसीका नाम उत्तानकूर्मासन है ॥ ३४ ॥

इति उत्तानकूर्मासनम् ।

अथ उत्तानमण्डूकासनम् ।

मण्डूकासनमध्यस्थं कूर्पराभ्यां धृतं शिरः ।

एतद्वैकवदुत्तानमेतदुत्तानमण्डुकं ।

मण्डूकासनसे समासीन हो दोनों कुहनियोंसे शिरको पकड़ मण्डूककी तरह उत्तानभावसे अवस्थिति करना चाहिये । इसीका नाम उत्तानमण्डूकासन है ॥ ३५ ॥

इति उत्तानमण्डूकासनम् ।



## अथ वृक्षासनम् ।

वामोरुमूलदेशे च याम्यपादं निधाय तु ।

तिष्ठेत्तु वृक्षवद्भूमौ वृक्षासनमिदं विदुः ॥ ३६ ॥

दाहिना पैर ऊरुके मूलदेशमें संस्थापनकर वृक्षकी तरह समान भावसे जमीनपर अवस्थित होना चाहिये । इसीका नाम वृक्षासन है ॥ ३६ ॥

## इति वृक्षासनम् ।

## अथ मण्डूकासनं ।

पादतलौ पृष्ठदेशे अंगुष्ठे द्वेच संस्पृशेत् ।

जानुयुग्मं पुरस्कृत्य साधयेन्मण्डूकासनं ॥ ३७ ॥

पृष्ठदेशमें चरणतलद्वय लेजाकर उन दोनों पैरके अंगुठोंको परस्पर सटा देना चाहिये और दोनों जानुको सामनेकी ओर रखना चाहिये । इसका नाम मण्डूकासन है ॥ ३७ ॥

## इति मण्डूकासनम् ।

## अथ गरुडासनम् ।

जंघोरुभ्यां घरां पीड्य स्थिरकायो द्विजानुना ।

जानूपरि करं युग्मं गरुडासन मुच्यते ॥ ३८ ॥

दोनों ऊरु और दोनों पेडुरी द्वारा जमीनपर आक्रमणकर दोनों घुटनों द्वारा देहको स्थिर भावसे रख दोनों जाघोंपर



हाथोंको संस्थापित करना चाहिये । इसे ही गरुडासन कहते हैं ॥ ३८ ॥

इति गरुडासनम् ।

अथ वृषासनम् ।

याम्य गुल्फे पायुमूलं वामभागे पदेतरं ।  
विपरीतं स्पृशेद्भूमिं वृषासनमिदं भवेत् ॥ ३९ ॥

गुह्यदेशको दहिनी एड़ीके ऊपर संस्थापित कर उसके बायें भागमें चरणको विपरीतभावसे ( उलटा ) भूतलको स्पर्श करना चाहिये । इसे ही वृषासन कहते हैं ॥ ३९ ॥

इति वृषासनम् ।

अथ शलभासनम् ।

अघास्यः शेते करयुग्म वक्षे,  
भूमिमवष्टभ्य करयोस्तलाभ्यां ।  
पादौ च शून्ये च वितस्ति चोद्धू,  
वदन्तिपीठं शलभं मुनीन्द्रः ॥ ४० ॥

नीचे मुंह करके सोकर वक्षस्थलपर दोनों हाथ संस्थापन कर दोनों हथेलियोंसे महीको स्पर्शकर दोनों पैरोंको



शून्यमें वित्तेभर ऊँचेपर रखना चाहिये । इसीका नाम शल-  
भासन है ॥ ४० ॥

इति शलभासनम् ।

अथ मकरासनम् ।

अघास्यः शेते हृदयं निधाय,  
भूमौ च पादौ च प्रसार्यमाणौ ।

शिरसञ्च धृत्वा करदण्डयुग्मे,  
देहाम्नि कारं मकरासनं तत् ॥ ४१ ॥

नीचे मुंह करके सोकर मट्टीमें छातीको स्थापितकर  
दोनों पैर फैलाते हुए दोनों हाथों द्वारा शिरोदेशको पकड़ना  
चाहिये । इसका ही नाम मकरासन है । इस आसनका  
अभ्यास करनेसे शरीरका तेज बढ़ता है ॥ ४१ ॥

इति मकरासनम् ।

अथ उष्ट्रासनम् ।

अघास्यः शेते पदयुग्मव्यस्तं,  
पृष्ठे निधायार्पा धृतं कराभ्यां ।  
आकुञ्चयेत् सम्यगुदरास्य गाढं,  
उष्ट्रं पीठं योगिनो वदन्ति ॥ ४२ ॥



अधोवदनसे सोकर दोनों पैरोंको उलटा पीठकी ओर लाना चाहिये । इसके उपरान्त दोनों हाथों द्वारा उन पैरोंको पकड़ मुख और जठरको दृढ़रूपसे संकुचित करना चाहिये । इसीका नाम उष्ट्रासन है ॥ ४२ ॥

इति उष्ट्रासनम् ।

अथ भुजंगासनम् ।

अंगुष्ठनाभिपर्यन्तमधोभूमौ विनियम्यसेत् ।  
करतलाभ्यां धरां धृत्वा ऊर्ध्वं शीर्षः फणीवहि ॥४३॥  
देहाग्निर्वर्द्धते नित्यं सर्वरोगविनाशनं ।  
जागर्ति भुजगी देवी साधनात् भुजगासनं ॥४४॥

नाभिसे पैरके अंगूठेतक देहके निम्नभागको जमीनपर संस्थापितकर हाथकी दोनों हथेलियों द्वारा मट्टीका अवलम्बनकर भुजङ्गकी तरह शिरो देशको ऊंचा उठाना चाहिये । इसे ही भुजङ्गासन कहते हैं । इससे शरीरका अनल दिन दिन बढ़ता और रोगराशि विनष्ट होती है । इस आसनका अभ्यास करनेसे कुण्डलिनीशक्ति जागरिता होती है ॥ ४३-४४ ॥

इति भुजङ्गासनम् ।

अथ योगासनम् ।

उत्तानौ चरणौ कृत्वा संस्थाप्य जानुनोपरि ।



आसनोपरि संस्थाप्य उत्तानं करयुग्मकं ॥४५॥

पूरकैर्वायुमाकृष्य नासाग्रमवलोकयेत् ।

योगासनं भवेदेवतत् योगिनां योग साधने ॥४६॥

दोनों पैरोंका चित्तकर दोनों जंघोंके ऊपरभागमें संस्था-  
पित करते हुए दोनों हाथोंको चित्तकर आसनपर रखना  
चाहिये । इसके उपरान्त पूरकद्वारा वायुका आकर्षणकर  
कुम्भक करके नासाग्रभागको देखना चाहिये । इसे ही  
योगासन कहते हैं । योगासनके विषयमें योगियोंको अभ्यास  
करना सर्व्वथा विधेय है ॥ ४५-४६ ॥

इति योगासनम् ।

॥ द्वितीयोपदेशः समाप्तम् ॥





॥ श्रीः ॥

## ॥ तृतीयोपदेशः ॥

अथ मुद्राकथनम् ❀

श्रीघेरण्ड-उवाच ।

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरं ।

मूलबन्धं महाबन्धं महावेधश्च खेचरी ॥ १ ॥

\* देहकी कुण्डलिनी शक्ति सोई हुई है । जैसे महाभुजङ्ग अनन्त-गिरि-कानन-विराजिता धरणीके एकमात्र आधार हैं, वैसे ही कुण्डलिनी शक्ति ही यावतीय हठतन्त्रका आधार है । यदि वह कुण्डलिनी शक्ति जागे, तो शरीरके षट्चक्रस्थित सभी पद्म और गाँठें खुल जायें, सुतरां प्राणव्यु सुषुम्नाछिद्रकी राहसे अनायास ही आनन्दके साथ आवागमन कर सकता है । बिना अवलम्बनके मनके स्थिर होनेसे ही अमरत्व या मोक्ष मिलता है, इसीलिये इस कुण्डलिनी शक्तिको जगाना चाहिये । इस शक्तिको जगानेके लिये मुद्राके अभ्यासकी आवश्यकता है । इस विषयमें ग्रन्थयामलमें स्पष्ट प्रमाणित किया गया है,—

“सशैलवनघात्रीणां यथाधारो हि नायकः ।

सर्वेषां हटतन्त्राणां तथाधारा हि कुण्डली ।

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डलीं ।

तदा पद्मानि सर्वाणि भिद्यन्ते ग्रन्थयोपि च—



विपरीतकरी योनर्वज्रोणी शक्तिचालनी ।  
ताड़ागी माण्डवी मुद्रा शाम्भवी पञ्च धारणा ॥ २ ॥  
अश्विनी पाशिनी काकी मातङ्गी च भुजङ्गिनी  
पञ्चविंशति मुद्राणि सिद्धिदानीह योगिनां ॥ ३ ॥

श्रीधेरण्ड ऋषिने कहा,—“ महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डी-  
यान, जालन्धर, मूलवन्ध, महावन्ध, महावेध, खेचरी, विप-  
रीतकरणी, योनि, वज्राणी, शक्तिचालिनी, ताड़ागी, माण्डवी,  
शाम्भवी, पञ्चधारण, \* अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातङ्गी

प्राणस्व शून्यपदवी तदा राजपथायते ।

यदा चित्तं विनालम्बं तदा कालस्य वञ्चनम् ।

और संहिताओंमें भी लिखा है,—

“ सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ।

तदा सर्व्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोपि च ।

तस्मात् सर्व्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरी ।

ब्रह्मरन्ध्र मुखे सुप्ता मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ ”

अर्थात्,—गुरुके प्रसादसे कुण्डलिनी देवीके जागरिता होते ही  
देहान्तरके षट्चक्रस्थ पद्म और सब गांठें खुल जाती हैं । यह  
कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्मरन्ध्रमुखसे निद्रितो है, इसे प्रबोधित करनेके  
लिये यत्नवान् होना चाहिये । सुतरां मुद्राभ्यास करना सर्व्वथा  
विधेय है ।

\* साधारण पांच प्रकारकी हैं,—“पार्थिवी धारणा, ( इसे ही  
अधोधारणा कहते हैं ) अम्भसी धारणा, वैश्वानरी धारणा, वायवी  
धारणा, नभोधारणा । इस नभोधारणाका ही सद्गुरा नाम आकाशी  
धारणा है ।



और भुजङ्गिनी, यह पन्द्रह प्रकारकी मुद्रायें कही गई हैं ।  
यह सभी मुद्रायें योगियोंके लिये सिद्धिका विधान करती  
हैं ॥ १ ॥ ३ ॥ \*

इति मुद्राकथनं ।

अथ मुद्राणां फलकथनं ।

मुद्राणां पटलं देवि कथितं तव सन्निधौ ।

येन विज्ञातमात्रेण सर्वं सिद्धिः प्रजायते ॥४॥

\* ग्रन्थयामलमें दश प्रकारकी मुद्राओंका उल्लेख है । यथा,—

“ महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।

उड्डीयानं मूलबन्धो जालन्धराभिधः ।

करणं विपरीताख्यं वज्रोणी शक्ति चालनं ॥ ”

अर्थात्,—महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, वज्रोणी और  
उड्डीयान, मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध, विपरीतकरण, वज्रोणी और  
शक्तिचालन ।

शिवसंहितामें इस प्रकार लिखा है, यथा,—

महामुद्रा, महाबन्धो महावेधश्च लेचरी ।

जालन्धरो महाबन्धो विपरीत कृतिस्तथा ।

उड्डीयानश्च वज्रोणी दशमं शक्तिचालनं । ”

अर्थात्,—महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, जालन्धरबन्ध, मूलबन्ध,  
विपरीतकरणी, उड्डीयान, वज्रोणी और शक्तिचालन, यह दश प्रकारकी  
मुद्रायें हैं ।



गोपनीयं सयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित् ।

प्रीतिदं योगिनाञ्चैव दुर्लभं मरुतामपि ॥५॥

महेश्वरने पार्वतीसे कहा था, 'व. हे देवी ! म. तुमसे सब मुद्राओंका नाम कहता हूँ । इसके जाननसे ही सब सिद्धियाँ मिलती हैं यह परम गोपनीय है; हरेकको, इच्छारूप प्रदान करना न चाहिये । यह मुद्रायें योगियोंके लिये परम-प्रीतिप्रद हैं; यह सुरगणके लिये भी दुष्प्राप्य हैं ॥ ४-५॥ \*

इति मुद्राणां फलकथम् ।

अथ महामुद्राकथनम् ।

पायुमूलं वामगुल्फे संपीड्य दृढयत्नतः ।

याम्यपादं प्रसार्यार्थं करे धृतपदांगुलः ॥६॥

\* मुद्राका फल ग्रहयामलमें जिस प्रकार वर्णित है, वह भी यहाँ उद्धृत किया जाता है; यथा—

“ मुद्राणां दशकं ध्येतत् व्याधिमृत्यु विनाशनं ।

देवेशि कथितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकं ।

बल्लभं योगिनामेतत् दुर्लभं मरुतामपि ।

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकं ।

कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥

जिन दश प्रकारकी मुद्राओंका उल्लेख किया गया, इससे व्याधि और मृत्युका भय छुट जाता है; यह अणिमादि अष्टैश्वर्य प्रदान करती हैं; यह योगियोंके लिये परम प्रिय और देवगणके लिये भी दुर्लभ हैं। इसे रत्नकरण्डककी तरह यत्नके साथ छिपाना चाहिये; किसीसे प्रकाशित करना न चाहिये ।



कण्ठसंकोचनं कृत्वा भ्रुवोमध्यं निरीक्षयेत् ।  
महामुद्राभिधा मुद्रा कथ्यतेचैवसूरिभिः ॥ ७ ॥

गुह्यप्रदेशको दृढयत्नसे बाईं एड़ीसे दबाके दाहिने पैरको फैला हाथोंसे पैरकी सम्पूर्ण अंगुलियोंको पकड़ कर और कण्ठसङ्कोचन करते हुए दोनोभौंहके मध्यस्थलको देखना चाहिये; इसे ही पण्डित लोग महामुद्रा कहते हैं ॥ ६-७ ॥ \*

इति महामुद्राकथनम् ।

\* ग्रहयामलमें महामुद्राका लक्षण यह है,—

“ पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम् ।

पादं प्रसारितं कृत्वा कराभ्यां धारये दृढं ।

कण्ठे वक्त्रं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्द्धतः ।

यथा दण्डाहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ।

ऋज्वी भूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ।

तथा सामरणावस्था जायते द्विपुटाश्रिता ।

ततः शनैः शनैरेव रेचयेत्तं न वेगतः ।

इयं खलु महामुद्रा तव स्नेहात् प्रकाश्यते ॥ ”

अर्थात्,—योनिप्रदेशको बाईं एड़ीसे दबाकर दाहिने परको फला उसे दोनों हाथोंसे दृढरूपसे पकड़कर ठोढ़ी कण्ठमें लगा कर कुम्भक द्वारा वायुको रोकना चाहिये । इस मुद्राका अभ्यास करनेसे जैसे लाठीसे मारा सर्प लाठीके समान सीधा हो जाता है, वैसे ही कुण्डलिनी भी सरलभाव धारण करती है । इसके उपरान्त उस कुम्भकपूरित वायुको धीरे धीरे रेचन करना चाहिये । इसे ही महामुद्रा कहते हैं ।



## अथ महामुद्राफलकथनम् ।

क्षयकासं गुदावर्त्तं स्त्रीहाजीर्णं ज्वरन्तथा ।

नाशयेत् सर्वरोगांश्च महामुद्रानिसेवनात् ॥ ८ ॥

इस महामुद्राका अभ्यास करनेसे क्षयकास, गुदावर्त्त, प्लीहा, अजीर्ण, ज्वर प्रभृति सभी रोगराशि विहरित होती हैं ॥ ८ ॥ \*

## इति महामुद्राफलकथनम् ।

\* शिव-संहितामें लिखा है, कि जो मनुष्य मन्दभाग्य हैं, वह भी यदि इस महामुद्रा का आचरण करेंतो, सिद्धि पा सकते हैं। इस मुद्राका अभ्यास करनेसे शरीरस्थ नाड़ीसमूह परिचालित होती और जीवनीशक्तिस्वरूप शुक्र स्तम्भित होता है; सुतरां वह शुक्र जीवनको अवस्थित करता है। इस मुद्राके प्रभावसे पापराशि और रोगसमूह विनाश होते हैं; जठराग्नि परिवर्द्धित होती है; शरीरमें लावण्य उत्पन्न होता है; जरा और मरण दूर होता और अभीष्टफल और आनन्द लाभ होता है। इस मुद्राके प्रभावसे जितेन्द्रियशक्ति उत्पन्न होती है। यह मुद्रा परम गोपनीय है; योगिगण इस मुद्राके प्रभावसे अपार संसार-समुद्रसे उत्तीर्ण होते हैं; इसका साधन करनेपर जो कामना की जाये, वही मिल सकती है। यथा,—

“अनेन विधिना योगी मन्दभाग्योपि सिध्यति ।

सर्वांसामेव नाडीनां चालनं विन्दुमारणं ।

जीवनन्तु कषायस्य पातकानां विनाशनं ।

सर्वरोगोपशमनं जठराग्निविवर्द्धनं ।

वपुषः कान्तिममलां मृत्युवार्धक्यनाशनं ।



## अथ नभोमुद्राकथनम् ।

यत्रयत्रस्थितो योगी सर्वकार्येषुसर्वदा ।

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा धारयेत् पवनं सदा ॥

नभोमुद्रा भवेदेषा योगिना रोगनाशिनी ॥ ९ ॥

योगी सदा सभी काम करते हुए ऊर्ध्वजिह्वा अर्थात् खेचरी मुद्रासे कुम्भक द्वारा वायुको रोकें । इसीका नाम नभोमुद्रा है इस मुद्रासे योगियोंके सभी रोग विनाशित होते हैं ॥ ९ ॥ \*

## इति नभोमुद्राकथनम् ।

## अथ उड्डीयानवन्धः ।

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वन्तु कारयेत् ।

उड्डीयानं तु कुरुते यत्तदविश्रान्तं महाखगः ॥

उड्डीयानं त्वसौ वन्धो मृत्युमातङ्गकेशरी ॥ १० ॥

वाञ्छितार्थफलं सौख्यमिन्द्रियानाञ्च मारणं ।

एतदुक्तानि सर्वाणि योगरूढस्य योगिनः ।

भवेदभ्यासतोऽवश्यं नात्र कार्या विचारणा ।

गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते ।

यान्तु प्राप्य भवाम्भोधेः पारं गच्छन्तियोगिनः ।

मुद्राकाम दुग्धाहोषा साधकानां मयोदिता ।

गुप्ताचारेण कर्त्तव्या न देया यस्य कस्यचित् ॥”

\* इसे ही आकाशी मुद्रा कहते हैं ।



नाभिके ऊपर उदर भागके पीछेकी तरफ अर्थात् भीतरको बलपूर्वक सङ्कोच करे अर्थात् खींचे और प्राणवायुको उड़ियान करे अर्थात् उठावे तब अविकल ब्रह्मरन्ध्रके आकाशमें प्राण-वायुका गमन होगा—दूसरा अर्थ—योगी जब विधिपूर्वक उड़ियान बन्धद्वारा आकाशमें उड़ियान करते हैं ( उड़ते हैं ) तब महाखग अर्थात् गरुड़के समान उड़नेकी शक्ति हो जाती है—इसका नाम उड़ियान बन्ध है यह बन्ध मृत्यु रूपी मातङ्ग हाथीके लिए सिंहके समान है ॥ १० ॥

इति उड़ियानबन्धः ।

अथ उड़ियानबन्धस्य फलकथनम् ।

समग्रात् बन्धनात् ह्येतत् उड़ियानम् विशिष्यते ।

उड़ियाने समभ्यस्ते मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥ ११ ॥

जितने प्रकारके बन्ध कहे गये हैं, उनमें यह उड़ियान बन्ध ही सबसे श्रेष्ठ है । इसका अभ्यास हानेसे अनायास ही मुक्ति मिल सकती है ॥ ११ ॥ \*

इति उड़ियानबन्धस्य फलकथनम् ।

\* शिशंहितामें उड़ियान बन्धका फल इस प्रकार कहा है,—

“ नित्यं यः कुरुते योगी चतुर्वारं दिने दिने ।

तस्य नाभेस्तु शुद्धिः स्यात् येन शुद्धो भवेकरत् ।

षण्मासमभ्यसन् योगी मृत्युं जयति निश्चितं ।

तस्योदराग्निज्वलति रसवृद्धिस्तु जायते ।



## अथ जालन्धरबन्धकथनम् ।

कण्ठसंझोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत् ।

जालन्धरे कृते बन्धे षोडशाधारबन्धनं ॥

जालन्धरं महामुद्रा मृत्योश्च क्षयकारिणी ॥ १२ ॥

कण्ठदेशको संझोचनकर हृदयमें ठोड़ीको लगाये, इसको ही जालन्धरबन्ध कहते हैं । इससे सोलह आधारका बन्धन

रोगाणां संहयश्चापि योगिनो भवतिभ्रुवं ।

गुरोर्व्वद्भ्यातुयत्नेन साधयेच्च विचक्षणं ।

निर्जने सुस्थिते देशे वद्धं परमदुर्लभं । ”

अर्थात्—जो योगवित् मनुष्य प्रतिदिवस चार बार इस उड़ीयानबन्धका आचरण करते हैं, उनकी नाभिशुद्धि और मरुत्सिद्धि होती है । बराबर छः महीने इस बन्धका अभ्यास करनेसे मृत्युको पराजित होनेमें संदेह नहीं । जो मनुष्य इसका आचरण करते, उनकी उदराग्नि प्रज्वलित होती और देहमें पुष्टिकर रसका सञ्चार होता है । इसके प्रभावसे योगियोंकी रोगराशि विनाशित होती है । धीमान् साधक गुरुसे उपदेश ले यत्नके साथ एकान्तमें बैठ इस दुर्लभ बन्धका अभ्यास करें ।

भगवान् दत्तात्रेयकी संहितामें भी लिखा है,—

“ अभ्यसेद् यस्तु सत्वस्थो वृद्धोपि तरुणायते ।

षण्मासमभ्यसन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ”

अर्थात्,—उड़ीयानबन्धका अभ्यास करनेसे वृद्ध मनुष्य भी यौवन पाता है । बराबर छः महीनेतक इसका अभ्यास करनेसे साधकके मृत्युको पराजित करनेमें सन्देह नहीं ।



होता है अर्थात् कण्ठस्थानमें सोलह स्वरोंके सोलह पत्ररूप आधार है, उनका कण्ठसङ्कोचनसे बन्धन होता है और यह मृत्युको पराजित करता है ॥ १२ ॥ \*

इति जालन्धरबन्धकथनम् ।

अथ जालन्धरबन्धफलकथनम् ।

सिद्धं जालन्धरं बन्धं योगिनां सिद्धिदायकं ।

षण्मासमभ्यसेत् यो हि ससिद्धो नात्र संशयः ॥ १३ ॥

यह जालन्धरबन्ध स्वतःसिद्ध है; योगियोंके लिये सिद्धि-

\* ग्रहयामलमें लिखा है,—

“ कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढं ।

बन्धो जालन्धराख्योऽयम् मृताव्यवकारकः । ”

अर्थात्,—कण्ठको आकुञ्चनकर चिबुकको दृढ़ रूपसे हृदय स्थानमें स्थापित करना चाहिये । इसे ही जालन्धरबन्ध कहते हैं । इससे देहका अमृत सदा परिपूर्ण रहता है । शिवसंहितामें लिखा है,—

“ बद्धा गल शिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत् ।

बन्धो जालन्धरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः । ”

अर्थात्,—गलप्रदेशके नाड़ीजालकों बांधकर ठोड़ीको हृदयपर लगाकर कुम्भक करना चाहिये । इसे ही जालन्धर बन्ध कहते हैं, यह बन्धन देवतोंको भी दुर्लभ है ।



विधान करता है; जो धीमान् बराबर छः महीनेतक इसका अभ्यास करते हैं; उन्हें सिद्धि मिलनेमें सन्देह नहीं ॥ १३ ॥ \*

इति जालन्धरवन्धफलकथनम् ।

अथ मूलवन्धकथनम् ।

पार्ष्णिना वामपादस्य योनिमाकुञ्चयेत्ततः ।

नाभिग्रन्थिं मेरुदण्डे संपीड्य यत्नतः सुधीः ॥ १४ ॥

मेढ्रं दक्षिणगुल्फे तु दृढवन्धं समाचरेत् ।

जराविनाशिनी मुद्रा मूलवन्धो निगद्यते ॥ १५ ॥

गुह्यप्रदेशको बाँई एड़ीसे आकुञ्चनकर यत्नके साथ मेरुदण्डमें नाभिग्रन्थिको संयुक्त करना चाहिये अर्थात् नाभिको भीतरको खींचकर पीठसे लगाके फिर उपस्थको दहनीएड़ीसे

\* शिव-संहितामें लिखा है, कि साधक इस वन्धके प्रसादसे सहस्रदल कमलसे निकले हुए अमृतको अधोभागमें ला स्वयं उसे पीकर अमरत्वलाभ करते हैं । यह मुद्रा सिद्धिप्रद है, सिद्धिकामी योगगिण सदा इसका अभ्यास करें । यथा,—

“ वन्धे नानेव पीयूषं स्वयं पिवति बुद्धिमान् ।

अमरत्वञ्च संप्राप्य मोदते भुवनजये ।

जालन्धर वन्ध एष सिद्धानां सिद्धिदायकः ।

अभ्यासः क्रियते नित्यं योगिना सिद्धिमिच्छता ॥ ”



दृढ़भावसे सम्बद्ध करे। इसे ही मूलबन्ध कहते हैं। यह मुद्रा जराका विनाशित करती है ॥ १४-१५ ॥ \*

### इति मूलबन्धकथनम् ।

अथ मूलबन्धस्यफलकथनम् ।

संसारसमुद्रं तर्तुं अभिलषति यः पुमान् ।

विरले सुगुप्तो भूत्वा मुद्रायेनां समभ्यसेत् ॥ १६ ॥

अभ्यासात् बन्धनस्यास्य मरुत् सिद्धिर्भवेद्भुवं ।

साधयेत् यत्नतो तर्हि मौनी तु विजितालसः ॥ १७ ॥

जो मनुष्य संसाररूप सागरसे पार होनेकी इच्छा करत हों, वह एकान्तमें छिपकर इस मुद्राका अभ्यास करें। इस मूलबन्धका अभ्यास करनेसे निश्चय ही मरुत्सिद्धि होती है; अतएव साधक आलस्यको परित्यागकर मौनी हो यत्नके साथ इसकी साधना करें ॥ १६-१७ ॥ \*

### इति मूलबन्धस्यफलकथनम् ।

\* मतान्तरमें मूलबन्ध इस प्रकार वर्णित है,—

पादमूलेन संपीड्य गुदमार्गं सुयन्त्रितं ।

बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्वं समभ्यसेत् ।

कल्पितोयं मूलबन्धो जरामरणनाशनः ॥ \*\*

अर्थात्,—मध्यप्रदेशको एड़ीसे यत्न पूर्वक संपीडन करते हुए अपानवायुको बलके साथ धीरे धीरे ऊपरकी ओर खींचना चाहिये। इसे ही मूलबन्ध कहते हैं। यह जरामरणका विनाशक है।

\* इस मूलबन्ध द्वारा योनिमुद्रा सिद्ध होती है। इसके प्रभावसे साधक आकाशमें उड़ सकते हैं।



## अथ महावन्धकथनम् ।

वामपादस्य गुल्फे तु पायुमूलं निरोधयेत् ।  
 दक्षपादेन तद्गुल्फं संपीड्य यत्नतः सुधीः ॥ १८ ॥  
 शनैः शनैश्चालयेत् पार्श्विणं योनिमाकुञ्चयेच्छनैः ।  
 जालन्धरे धारयेत् प्राणम्महावन्धो निगद्यते ॥ १९ ॥

वाँई एड़ीसे मूलद्वारको निरोध करना और दाहिने पैर द्वारा यत्नके साथ वाँई एड़ीको पीड़नकर धीरे धीरे कुक्षिको परिचालित करना चाहिये और मंद मंद गुह्यप्रदेशको आकुञ्चन करे और जालन्धरवन्ध द्वारा प्राणवायुको धारण करना चाहिये । इसे ही महावन्ध कहते हैं ॥ १८-१९ ॥ \*

## इति महावन्धकथनम् ।

\* शिव-संहितामें यह मुद्रावन्ध इस प्रकार लिखा है, कि बाँवें ऊरुके ऊपरीभागमें दाहिने पैरको विस्तारितकर संस्थापन करना और योनि तथा गुह्यप्रदेशको संकुचितकर अपानवायुको उर्द्धगामी करते हुए नाभिकों समानवायुको अधोमुख करते हुए प्राण और अपान इन दोनों वायुके साथ जठरमें कुम्भकयोगसे दृढ़रूपसे संवद्ध करना कराना चाहिये । इसका ही नाम महावन्ध है; यथा,—

ततः प्रसारितः पादो विन्यस्य तमूरुपरि ।

गुदयोनि समाकुञ्च्य कृत्वा चापानमूर्द्धगं ।

योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखं ।

बन्धये दुदरेत्यर्थं प्राणापानाख्य यः सुधीः ।

कथितोयं महावन्धः सिद्धिमार्गप्रदायकः ॥ ”



## अथ महावन्धस्यफलकथनम् ।

महावन्धः परोवन्धो जरामरणनाशनः ।

प्रसादादस्य वन्धस्य साधयेत् सर्व्ववाञ्छितं ॥ २० ॥

यह महावन्ध सब वन्धोंमें श्रेष्ठ कहा जाता है । यह जरा और मृत्युको विनाशित करता है, इसके प्रसादसे सभी मनोरथ सिद्ध किये जाते हैं ॥ २० ॥ \*

## इति महावन्धस्यफलकथनम् ।

## अथ महावन्धकथनम् ।

रूपयौवन लावण्यं नारीणां पुरुषं विना ।

मूलवन्ध महावन्धौ महावेधं विना तथा ॥ २१ ॥

महावन्धं समासाद्य उड्डानं कुम्भकं चरेत् ।

महावेधः समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायकः ॥ २२ ॥

जैसे बिना पुरुषके रमणीका रूप, यौवन और लावण्य विफल होता है, वैसे ही महावेधके बिना मूलवन्ध और महावन्ध निष्फल होते हैं । पहले महावन्धका अनुष्ठान कर, उड्डी-

\* इस मुद्राका अभ्यास करनेसे देहकी पुष्टि और अस्थिपञ्जर सुदृढ़ होते हैं; चित्त सदा संतुष्ट रहता है । इसके प्रभावसे साधक सभी मनोरथ सिद्ध कर सकते हैं । यह विषय शिवसंहितामें विशेषरूपसे वर्णित है ।



यानवन्धका आचरण करते हुए कुम्भकसे वायुका निरोध करे, इसको ही महावेध कहते हैं। महावेध योगिगणका सिद्धि-दायक है ॥ २१-२२ ॥ \*

इति महावेधकथनम् ।

अथ महावेधस्यफलकथनम् ।

महावन्धमूलवन्धौ महावेधसमन्वितौ ।  
प्रत्यहं कुरुते यस्तु स योगी योगवित्तमः ॥ २३ ॥  
न मृत्युभयं तस्य न जरा तस्य विद्यते ।  
गोपनीयः प्रयत्नेन वेधोयं योगिपुङ्गवैः ॥ २४ ॥

जो साधक प्रतिदिन महावेधके सहित महावन्ध और मूलवन्धका आचरण करते हैं, वही योगिश्रेष्ठ कहे जाते हैं। मृत्यु या जरा उनपर आक्रमण कर नहीं सकती; यह परम गोपनीय है; योगिपुङ्गवगण यत्नके साथ इसे छिपाके रखें ॥ २३-२४ ॥

इति महावेधस्यफलकथनम् ।

\* महावेध और प्रकारके भी होते हैं; जैसे शिव-संहितामें लिखा है,—

“अपानप्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेश्वरि ।

महावेधस्थितो योगी कुक्षिमापूर्य्य वायुना ।

स्फिचौ संताडयेद्धीमान् वेधोयं कीर्तितो मया ॥”

अर्थात्,—अपान और प्राणवायुका ऐक्य साधनकर कुम्भक योगसे वायु द्वारा उदरको पूर्ण करके नितम्बद्वयके ऊपर ताड़ित करना चाहिये। इसे ही महावेध कहते हैं।



## अथ खेचरीमुद्राकथनम् ।

जिह्वाधो नाडीं संखिन्नां रसनां चालयेत् सदा ।  
 दोहयेन्नवनीतेन लौहयंत्रेण कर्षयेत् ॥ २५ ॥  
 एवं नित्यं समभ्यासास्त्रम्बिका दीर्घतां व्रजेत् ।  
 यावद्गच्छेद् भ्रुवोर्मध्ये तथा गच्छति खेचरी ॥ २६ ॥  
 रसनां तालुमध्ये तु शनैः शनैः प्रवेशयेत् ।  
 कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥  
 भ्रुवोर्मध्ये गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ २७ ॥

जिह्वाके नीचे जो नाड़ी है, उसे छेदन करके सदा अगले-  
 भागको परिचालित करना चाहिये । फिर रसनाको नवनीत  
 लगाके दोहनकरे और लौहेकी जभीसे जिह्वाको खीचना  
 चाहिये । प्रतिदिन ऐसा ही करनेसे जिह्वा बड़ी होती है ।  
 धीरे धीरे अभ्यास द्वारा जिह्वाको इस प्रकार लम्बी करना  
 चाहिये, जिससे वह अनायास ही दोनों भौंहके मध्यस्थलको  
 स्पर्श कर सके तब रसनाको धीरे धीरे तालुके भीतर ले जाना  
 चाहिये । बीचोबीचके गड़हेको कपालकुहर कहते हैं । जिह्वाको  
 उस कपालकुहरके मध्यमें ऊपरकी ओर उलटकर प्रवेशित करके  
 दोनों भौंहके मध्यस्थलको देखना चाहिये । इसे ही खेचरी मुद्रा  
 कहते हैं ॥ २५-२६-२७ ॥ \*

## इति खेचरीमुद्राकथनम् ।

\*जिह्वाके दोहन चालन छेदनेके उपाय जिह्वा मूलशोधनके स्थान-  
 में पहिली टिप्पणीमें लिख चुके हैं ।



## अथ खेचरीमुद्रायाः फलकथनम् ।

नच मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते ।

नच रोगो जरा मृत्युर्देव देहस्तु जायते ॥ २८ ॥

जो मनुष्य खेचरी मुद्राका साधन करते हैं, उन्हें मूर्च्छा भूख या प्यास या आलस्य बाधा नहीं देसकती । उनके शरीरमें रोग या बुढ़ापा या मृत्युका भय नहीं रहता, वह देवताके समान देह पाते हैं ॥ २८ ॥

नामिना दह्यते गात्रं न शोषयति मारुतः ।

न देहं क्लेदयन्त्यापो दंशयेन्न भुजङ्गमः ॥ २९ ॥

जो खेचरी मुद्राका साधन करते हैं, अग्नि उन्हें जलानेमें समर्थ नहीं होती, वायु उन्हें सुखा नहीं सकती, जल उनकी

खेचरी मुद्राके सम्बन्धमें शिवसंहितामें यों लिखा है,—

“ ध्रुवोरन्तर्गतां दृष्टिं निधाय सुदृढां सुधीः ।

उपविश्यासने वज्रे नानोपद्रववर्जितः ।

लम्बिकोर्ध्वस्थिते गर्त्ते रसनां विपरीतगां ।

संयोजयेत् प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः ।

मुद्रया खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरोधतः ॥ ”

अर्थात्—निरुपद्रव स्थानमें वज्रासनसे बैठके दोनों भीहोंके बीचमें दृढ़रूपसे दृष्टि स्थिर रखना चाहिये । इसके उपरान्त जीभके ऊपर जो तालुकुहर है, उसपर जीभको उलटी रख यत्नके साथ बुद्धिमान् योगी सुधाकूपमें जिह्वाको संयोजित करे । इसेही खेचरीमुद्रा कहते हैं ।



देहको डुबानेमें समर्थ नहीं होता और सर्प भी उन्हें काट नहीं सकता ॥ २९ ॥

लावण्यञ्च भवेद्भात्रे समाधिर्जायते ध्रुवं ।

कपालवक्त्रसंयोगे रसना रसमाप्नुयात् ॥ ३० ॥

खेचरी मुद्राके साधनेवालेकी देहमें अपूर्व लावण्यका सञ्चार होता है और वह समाधियोग पा सकते हैं । कपाल और वक्त्र इन दोनोंके मिलनेसे उनकी रसनामें विचित्ररसका उत्पत्ति होती है ॥ ३० ॥

नानारस समुद्भूतमानन्दञ्च दिने दिने ।

आदौ लवणक्षारञ्च ततस्तिक्तकषायणं ॥ ३१ ॥

नवनीतं घृतं क्षीरं दधितक्रमधूनि च ।

द्राक्षारसञ्च पीयूषं जायते रसनोदकं ॥ ३२ ॥

जो इस मुद्राका साधन करते हैं, उनकी रसनासे दिन दिन अद्भुत रसका सञ्चार होता है और उनके चित्तमें दिन दिन नये नये आनन्द उत्पन्न होते हैं । उस साधककी जिह्वा पर सबसे पहले लवणरस, इसके उपरान्त क्षाररस, फिर तिक्तरस, कषायरस, नवनीत, घृत, क्षीर, दधि, तक्र, मधु, द्राक्षा, अमृत प्रभृति विविधिरसका आविर्भाव होता है ॥

इति खेचरीमुद्रायाः फलकथनम् ।

अथ विपरीतकरणीमुद्राकथनम् ।

नाभिमूले वसेत् सूर्यस्तालुमूले च चंद्रमाः ।



अमृतं ग्रसते सूर्यस्ततो मृत्युवशो नरः ॥ ३३ ॥

ऊर्ध्वं जायते सूर्यश्चन्द्रश्च अध आनयेत् ।

विपरीतकरी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ ३४ ॥

भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मः समाहितः ।

ऊर्ध्वपादः स्थिरो भूत्वा विपरीतकरी मता ॥ ३५ ॥

सूर्य नाड़ी नाभिके मूलमें और चन्द्रनाड़ी तालुमूलमें विद्यमान है। सहस्रदल कमलसे जा पीयूषधारा विगलित ( अर्थात् बहती है) होती है, उस सुधाको सूर्य पानकर जाते हैं। इसी कारण से ही जीवगणको मृत्युके ग्रासमें पतित होना पड़ता है। यदि चन्द्रनाड़ी द्वारा वह अमृत पिया जाये, तो मृत्यु किसी प्रकार आक्रमण कर नहीं सकती। इस कारणसे योगबलसे सूर्यको ऊर्ध्वभागमें और चन्द्रमाको अधोभागमें लाना योगीका कर्तव्य है। इस विपरीतकरणी मुद्राके गोप्य रखनेके लिये सब तन्त्रोंकी सम्मति है। शिरोदेशको भूमिमें संस्थापनकरके दोनों हाथों को भूमिमें टेकके सावधानीसे दोनों पैर ऊपर उठाके स्थिररहना चाहिये। इसे ही विपरीतकरणी मुद्रा कहते हैं ॥ ३३-३४-३५ ॥ \*

इति विपरीतकरणीमुद्राकथनम् ।

\* शिव संहितामें इस मुद्राके सम्बन्धमें यों लिखा है,

“ भूतले स्वशिरो दत्वास्त्रे नयेच्चरणद्वयं ।

विपरीतीकृतिश्चैषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ ”

अर्थात्,—अपने शिरको नीचे भूमिपर लगाकर दोनों पैरोंको ऊपर शून्यमें उठाना चाहिये। इसे ही विपरीतकरणीमुद्रा कहते हैं। यह परम गोपनीय है।



अथ विपरीतकरणीमुद्रायाः फलकथनम् ।

मुद्रेयं साधयेन्नित्यं जरां मृत्युश्च नाशयेत् ।

स सिद्धः सर्वलोकेषु प्रलयेऽपि न सीदति ॥३६॥

जो मनुष्य नित्य इस मुद्राका साधन करते हैं, वह जरा और मृत्युको जीत लेते हैं अर्थात् अमर हो जाते हैं और वही सर्वलोकमें सिद्ध हैं; वह योगी प्रलयकालमें भी नाशकों प्राप्त नहीं होते ॥ ३६ ॥ \*

इति विपरीतकरणीमुद्रायाः फलकथनम् ।

अथ योनिमुद्राकथनम् ।

सिद्धासनं समासाद्य कर्णचक्षुर्नसोमुखं ।

अङ्गुष्ठतर्जनीमध्यानामादिभिश्च साधयेत् ॥३७॥

\* इसमुद्राका फल शिवसंहितामें इस प्रकार लिखा है—

“एतद् यः कुरुते नित्यं मध्यासं याममात्रकं ।

मृत्युं जयति सजोगी प्रलये नापि सीदति ।

कुरुतेऽमृतपावं यः सिद्धानां समतामियात् ।

स सिद्धः सर्वलोकेषु बन्धमेनं करोति यः ।”

अर्थात्,—जो प्रतिदिन एक पहरतक इस मुद्राका अभ्यास करते हैं, मृत्यु उनपर आक्रमण कर नहीं सकती। वह प्रलयके समय भी अवसन्न नहीं होते। जो मनुष्य देहकी पीयूषको पीते हैं, वही सिद्धगणकी समताकोपाते हैं। इस मुद्राका अभ्यास करनेसे सर्वत्र ही सिद्धि होती है।



काकीभिः प्राणं संकृष्य अपाने योजयेत्ततः ।  
 षट्चक्राणि क्रमाद्ध्यात्वा हुं हंसमनुना सुधीः ॥३८॥  
 चैतन्यमानयेद्देवीं निद्रिता या भुजङ्गिनी ।  
 जीवेन सहितां शक्तिं समुत्थाप्य कराम्बुजे ॥३९॥  
 शक्तिमयः स्वयं भूत्वा परं शिवेन सङ्गमं ।  
 नानासुखं विहारश्च चिन्तयेत् परमं सुखं ॥४०॥  
 शिवशक्तिसमायोगादे कान्तं भूवि भावयेत् ।  
 आनन्दश्च स्वयं भूत्वा अहं ब्रम्हेति सम्भवेत् ॥४१॥  
 योनिमुद्रा परा गोप्या देवानामपि दुर्लभा ।  
 सकृत्तु लाभसंसिद्धिः समाधिस्थः स एव हि ॥४२॥

सबसे पहले सिद्धासनसे बैठके दोनों कानोंको दोनों अंमूठों द्वारा, दोनों आखें दोनों तर्जनी उंगली द्वारा, दोनों नासिकायें मध्यमा द्वारा, मुखको अनामिका द्वारा निरुद्ध करना चाहिये । प्राणवायुको काकीमुद्राके सहारे खींच कर अपानकी वायुके साथ मिलाना चाहिये । शरीरके छःओ चक्रका ध्यान करके “हुं” और “हंस” इन दोनों मन्त्रों द्वारा देवीकुण्डलिनीको जाग्रिता करे और जीवात्माके साथ मिली हुई कुण्डलिनीको सहस्रार कमलपर उठाके साधक यों चिंता करे, कि “मैं शक्तिमय हो शिवकेसाथ सङ्गमकर आनन्द भोग और विहार करता हूं और शिवशक्तिके संयोगसे मैं ही आनन्दमय ब्रह्म हूं ।” इसे ही योनिमुद्रा कहते हैं । यह मुद्रा परम गोपनीय है, यह सुरगणके लिये भी दुर्लभ है । इस



मुद्राका एकवार साधन करनेसे ही साधक सिद्धि पा सकते हैं ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ \*

## इति योनिमुद्राकथनम् ।

\* शिवसंहितामें योनिमुद्राकी प्रणाली इस प्रकार लिखी है,—

“ आदौ पूरकयोगेन स्वाधारे पूरयेन्मनः ।  
 गुदमेढ्रान्तरे योनिस्तमाकुञ्चय प्रवर्त्तते ।  
 ब्रह्मयोनिगतं ध्यात्वां कामं वन्धुकसन्निभं ।  
 सूर्य्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलं ।  
 तस्योर्ध्वं तु शिखा सूक्ष्मा चिन्द्रूपा परमा कला ।  
 तथापि हितमात्मानमेकीभूतं विचिन्तयेत् ।  
 गच्छन्ति ब्रह्ममार्गेण सिद्धत्रयक्रमेणैव ।  
 अमृतं तद्विसर्गस्थं परमानन्दलक्षणं ।  
 श्वेतरक्तं तेजसाढ्यं सुधाधारा प्रवर्षिणं ।  
 पीत्वा कुलामृतं दिव्यं पुनरेव विशेत् कुलं ।  
 पुनरेव कुलं गच्छेन्मात्रायोगेन नान्यथा ।  
 साच प्राणसमा ख्याता ह्यसिस्तन्त्रे मयोदिता ।  
 पुनः प्रेलीयते तस्यां कालाग्न्यादि शिवात्मकं ।  
 योनिमुद्रा पराहोषा बन्धस्तस्याः प्रकीर्त्तितः ।  
 तस्यास्तु बन्धमात्रेण तन्नास्ति यन्न साधयेत् ॥ ”

अर्थात्,—सबसे पहले अपने मनको पूरक योगके प्रभावसे अपने मूलाधारपद्ममें वायुके साथ पूरण करना चाहिये । गुह्यद्वारसे उपस्थतक जो स्थान है, उसे योनिमण्डल कहते हैं । उस योनिदेशको समाकुञ्जकर योनिमुद्राका आचरण करके इसके बाद ब्रह्मयोनिमें कामदेवका ध्यान करना चाहिये । वह कामदेव गुलदुपहरियाके फूलके समान शोणितवर्ण, कोटिसूर्य्यके समान प्रकाश मान और कोटिचन्द्र



## अथ योनिमुद्रा फलकथनम् ।

ब्रह्महा भुण्हा चैव सुरापी गुरुतल्पगः ।

एतैः पापैर्नलिप्येत योनिमुद्रानिवन्धनात् ॥४३॥

जो मनुष्य योनिमुद्राका साधन करते हैं, उन्हें ब्रह्महत्या गर्भहत्या, सुरापान, गुरुदारागमन आदि कोई भी पाप स्पर्श कर नहीं सकता ॥ ४३ ॥

जैसासुशीतल है । इसी प्रकार कामदेवकी चिन्ताकर उसपर परमा शक्तिका इस प्रकार ध्यान करना चाहिये, कि वह अग्निशिखा जैसी सूक्ष्मा चैतन्यस्वरूपा है, वह परमात्माके साथ एकत्रित है । ऐसा ही ध्यान करना उचित है । प्राणायामके बलसे स्थूलादि लिङ्गत्रय अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन त्रिविध अवयवविशिष्ट जीवात्माको कुण्डलिनीके साथ सुषुम्ना छिद्रकी राहसे ब्रह्ममार्गमें भेजना चाहिये । शिरस्थ अधोवदन कमल कर्णिकाके भीतरकी कुण्डलिनीशक्ति परमात्माके साथ सङ्गमासकता होती है, उससे श्वेत लालवर्ण तेजस्वी आनन्दमय सुधाधारा क्षरित होती है । जीवात्मा योगबलसे मूलाधारसे ऊपरचढ़ उस कुलामृतको पीता और फिर अधोभागमें उतरके मूलाधारस्थित ब्रह्मयोनिमें आके प्रविष्ट होता है इसप्रकार साधक जीवात्मा का ब्रह्मयोनि में गमनागमनरूप प्राणायाम मात्राके सहारे अभ्यास करे । इस प्रकारका प्राणायाम तीनबार करना चाहिये । ऐसी चिन्ता करना चाहिये, कि मूलाधारपद्ममें ब्रह्मयोनिगता कुण्डलिनी परमात्मामें प्राणस्वरूपिणी बनी है ; इस प्रकारके गमनागमनके उपरान्त फिर वह जीवात्मा कालाग्न्यादि शिवात्मक ब्रह्मयोनिमें लयको प्राप्त होता है । इसे ही योनिमुद्रा कहते हैं । यह मुद्रा सभी मुद्राओंमें प्रधान है । इसके प्रभावसे साधक सभी काम सुसिद्ध कर सकते हैं ।



यानि पापानि घोराणि उपपापानि यानि च ।  
तानि सर्वानि नश्यन्ति योनिमुद्रानिवन्धनात् ।  
तस्मादभ्यासनं कुर्याद् यदि मुक्तिं समिच्छति ॥ ४४ ॥

धरणीतलमें जितने दारुण पातक या उपपातक हैं, इस योनिमुद्राका आचरण करनेसे वह सभी विनष्ट हो जाते हैं । जो मनुष्य मुक्ति पानेकी कामना करते हैं, वह इसका अभ्यास करें ॥ ४४ ॥

इति योनिमुद्रा फलकथनम् ।

अथ वज्रोणीमुद्रा कथनम् ।

घरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्यां ।  
ऊर्ध्वं क्षिपेत् पादयुगं शिरः खे ।  
शक्तिप्रबोधाय चिरजीवनाय,  
वज्रोणीमुद्रा मुनयो वदन्ति ॥ ४५ ॥

दोनों हाथोंकी हथेलीको भूमिपर स्थिरभावसे रख ऊपर की ओर दोनों पैर और शिर उठाना चाहिये । इसे वज्रोणी मुद्रा कहते हैं । इसके प्रभावसे शरीरमें बलका सञ्चार होता है और दीर्घजीवन प्राप्त होता है ॥ ४५ ॥

इति वज्रोणीमुद्रा कथनम् ।



अथ वज्रोणीमुद्रायाः फलकथनम् ।

अयं योगो योगश्रेष्ठो योगिनां मुक्तिकारणं ।

अयं हितप्रदो योगो योगिनां सिद्धिदायकः ॥४६॥

इस मुद्राका योग सभी योगोंसे श्रेष्ठ है ; यह योगियोंकी मुक्तिका कारण है । यह योग परमहितकारी है । यह योगियोंको सिद्धि प्रदान करता है ॥ ४६ ॥

एतद्योगप्रसादेन विन्दुसिद्धिर्भवेद्भुवं ।

सिद्धेविन्दौ महायत्ने किं न सिद्ध्यति भूतले ॥४७॥

इस योगके प्रसादसे विन्दुसिद्धि होती है ; अर्थात् इस मुद्राका आचारण करनेसे साधकका विन्दुपात नहीं होता, उनमें विन्दुधारणकी शक्ति उत्पन्न होती है । विन्दुसिद्धि होनेसे धरातलमें ऐसा कौन कार्य है, जो सिद्ध न हो सके ॥ ४७ ॥

भोगेन महतायुक्तो यदि मुद्रां समाचरेत् ।

तथापि सकला सिद्धिस्तस्य भवति निश्चितं ॥४८॥

भोगयुक्त मनुष्य भी यदि इस मुद्राका आचरण करे, तो निश्चय ही उन्हें सब सिद्धियां मिलेंगी ॥ ४८ ॥

इति वज्रोणीमुद्रायाः फलकथनम् ।

अथ शक्तिचालिनीमुद्रा कथनम् ।

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता ।

शयिता भुजगाकारा सार्द्धत्रिवलयान्विता ॥ ४९ ॥



परमदेवता कुण्डलिनी शक्ति साढ़ेतीन फेरा भुजङ्गिनीकी तरह मूलाधारमें निद्रिता रहती है ॥ ४९ ॥

यावत् सा निद्रिता देहे तावज्जीवं पशुर्यथा ।

ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगं समभ्यसेत् ॥ ५० ॥

वह कुण्डलिनी शक्ति जबतक निद्रागत रहती है, तबतक कोटि कोटि योगाभ्यास करनेसे भी जीवको ज्ञानका सञ्चार नहीं होता और तबतक जीव पशुकी तरह अज्ञानमें आवृत रहता है ॥ ५० ॥

उद्धाटयेत् कपाटञ्च यथा कुञ्चिकया हठात् ।

कुण्डलिन्या प्रबोधेन ब्रह्मद्वारं प्रभेदयेत् ॥ ५१ ॥

जैसे कुञ्चिकसे द्वार खुलता है, वैसे ही कुण्डलिनी शक्तिके प्रबोधित करनेसे ही ब्रह्मद्वार खुलता है; ऐसा करनेसे ही जीवको ज्ञानका सञ्चार होता है ॥ ५१ ॥

नाभिं संवेष्ट्य वस्त्रेण नच नग्नो वहिस्थितः ।

गोपनीयगृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत् ॥ ५२ ॥

वस्त्र द्वारा नाभिदेशको वेष्टनकर एकान्तगृहमें बैठ शक्ति चालिनीमुद्राका अभ्यास करना चाहिये । किन्तु नगनावस्थामें बाहर बैठकर इस योगका साधन करना उचित नहीं ॥ ५२ ॥

वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरङ्गुलं ।

मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनाम्बर लक्ष्णं ॥

एवमम्बरयुक्तञ्च कटिसूत्रेण योजयेत् ॥ ५३ ॥

एकवित्ता बराबर लम्बा, चार अंगुल चौड़ा सुकोमल



धवल और पतले वस्त्र द्वारा नाभिको वेष्टन करके, उस वस्त्रखण्डका कटिसूत्र द्वारा सम्बन्ध करना चाहिये ॥५३॥

भस्मना गात्रसंलिप्तं सिद्धासनं समाचरेत् ।  
नासाभ्यां प्राणमाकृष्य अपाने योजयेत् बलात् ५४  
तावदाकुञ्चयेद्गुह्यं शनैरश्विनीमुद्रयां ।  
यावद्गच्छेत् सुषुम्नायां वायुः प्रकाशयेद्धठात् ॥५५॥

भस्म द्वारा शरीर लेपनकर सिद्धासनसे समासीन प्राणवायुको नाकके दोनों छेदों द्वारा खींचतेहुए हठसे अपान वायुके साथ मिलाना चाहिये । जबतक वायु सुषुम्ना नाड़ीके भीतर जाकर प्रकाशित न हो, तबतक अश्विनीमुद्रा द्वारा धीरे धीरे गुह्यप्रदेशको आकुञ्चित करना चाहिये ॥५४॥

तदावायु प्रवन्धेन कुम्भिका च भुजङ्गिनी ।  
वद्धश्वासस्ततो भूत्वा ऊर्ध्वमार्गं प्रपद्यते ॥ ५६ ॥

इस प्रकार निश्वास रोककर कुम्भक द्वारा वायुको निरोध करनेसे भुजगाकारा कुण्डलिनी शक्ति जागरिता हो ऊर्ध्वमार्गमें समुत्थित होती है, अर्थात् सहस्रदलकमलमें परमात्माके साथ मिलती है ॥ ५६ ॥

विना शक्तिं चालनेन योनिमुद्रा न सिद्ध्यति ।  
आदौ चालनमभ्यस्य योनिमुद्रां समभ्यसेत् ॥५७॥

शक्तिचालिनीमुद्रा विना योनिमुद्राके सिद्ध नहीं होती, अतएव पहले इस मुद्राका अभ्यास करके तब योनिमुद्राका अभ्यास करना चाहिये ॥ ५७ ॥



इति ते कथितं चण्डकापाले शक्तिचालनं ।

गोपनीयं प्रयत्नेन दिने दिने समभ्यसेत् ॥५८॥

हे चण्डकापाले ! मैंने तुमसे यह शक्तिचालिनी मुद्रा कही,  
इसे यत्नके साथ छिपाना चाहिये और दिन दिन इसका  
अभ्यास करना उचित है ॥ ५८ ॥ \*

इति शक्तिचालिनीमुद्राःकथनम् ।

अथ शक्तिचालिनीमुद्रायाःफलकथनम् ।

मुद्रेयं परमा गोप्या जरामरणनाशिनी ।

तस्मादभ्यसनंकार्ययोगिभिःसिद्धिकांक्षिभिः ॥५९॥

यह मुद्रा परम गोपनीय है; और वृद्धावस्था और मृत्युकी

\* शिवसंहितामें शक्तिचालिनी मुद्राकी प्रणाली इस प्रकार  
लिखी है,—

“आधारकमले सुप्ता चालयेत् कुण्डलीं दृढां ।

अपानवायुमारुह्य बलादाकृष्य बुद्धिमान् ।

शक्तिचालनमुद्रेयं सर्वशक्तिप्रदायिनी ॥”

अर्थात्—कुण्डलिनी शक्ति आधार कमलमें सो रही है, उसे  
जगाकर हठातबलसे अपान वायुको खींचकर चालन करना उचित  
है। इसे ही शक्तिचालिनी मुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा सभी शक्तियां  
प्रदान करती है।



नाश करनेवाली है, अतएव सिद्धिकी इच्छा करनेवाले योगि-  
योंको इसके अभ्यासका साधन करना चाहिये ॥ ५९ ॥

नित्यं योऽभ्यसते योगी सिद्धिस्तस्य करेस्थिता ।

तस्य विग्रहसिद्धिः स्याद्रोगाणां संक्षयो भवेत् ॥ ६० ॥

जो योगी इस मुद्राका प्रतिदिन अभ्यास करते हैं, सिद्धि-  
को उनके हाथोंमें ही समझना चाहिये । उनमें विग्रहसिद्धि  
उत्पन्न होती है और उनकी रोगराशिका क्षय होता है ॥ ६० ॥

इति शक्तिचालिनीमुद्रायाःफलकथनम् ।

अथ ताड़ागीमुद्राकथनम् ।

उदरं पश्चिमोत्तानं कृत्वा च तड़ागाकृति ।

ताड़ागीसां परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥ ६१ ॥

पश्चिमोत्तान आसनसे बैठके उदरको तड़ागाकृति करते  
हुए कुम्भक करना चाहिये । इसे ही तड़ागी मुद्रा कहते हैं ।  
यह मुद्रा प्रधान मुद्रा कही जाती है । इससे जरा और मृत्यु  
पराजित होती है ॥ ६१ ॥

इति तड़ागीमुद्राकथनम् ।

अथ माण्डुकीमुद्राकथनम् ।

मुखं समुद्रितं कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत् ।

शनैर्ग्रसेद् मृतन्तन्माण्डुकीमुद्रिकां विदुः ॥ ६२ ॥



मुख विवर बन्द करके जिह्वाके मूलदेशको परिचालित करना चाहिये और जिह्वा द्वारा धीरे धीरे सहस्रदलकमल विनिर्गत सुधाधारा पीना चाहिये। इसे ही माण्डुकी मुद्रा कहते हैं ॥ ६२ ॥  
इति माण्डुकीमुद्राकथनम् ।

अथ माण्डुकीमुद्रायाः फलकथनम् ।  
बलितं पलितं नैव जायते नित्ययौवनं ।  
न केशे जायते पाको यः कुर्यान्नित्यमाण्डुकीं ॥ ६३ ॥

माण्डुकी मुद्राका अभ्यास करनेसे शरीरमें बलित या पलितका सञ्चार नहीं होता, बाल नहीं पकते और चिरयौवन विद्यमान रहता है ॥ ६३ ॥

इति माण्डुकीमुद्रायाः फलकथनम् ।

अथ शाम्भवीमुद्राकथनम् ।  
नेत्राञ्जनं समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत्  
सा भवेच्छाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ ६४ ॥

दोनों भौंहोंके बीचमें दृष्टिको स्थिरकर एकान्तमनसे चिन्तायोगसे परमात्माको देखना चाहिये । इसीका नाम शाम्भवी मुद्रा है । यह मुद्रा सब तन्त्रोंमें गोपनीया कही जाती है ॥ ६४ ॥

इति शाम्भवीमुद्राकथनम् ।



अथ शाम्भवीमुद्रायाः फलकथनम् ।

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ।

इयन्तु शाम्भवीमुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥ ६५ ॥

वेद या पुराण या सभी शास्त्र सामान्य गणिकाकी तरह प्रकाशित हैं; किन्तु यह शाम्भवीमुद्रा कुलवधूकी तरह बहुत ही गोपनीया है ॥ ६५ ॥

स एव आदिनाथश्च सच नारायणः स्वयं ।

सचं ब्रह्मा सृष्टिकारी यो मुद्रां वेत्ति शाम्भवी ॥ ६६ ॥

जो इस शाम्भवी मुद्राको जानते हैं, वह आदिनाथके समान हैं; वही स्वयं नारायणस्वरूप और वही सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मास्वरूप हैं ॥ ६६ ॥

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्य मुक्तं महेश्वरः ।

शाम्भवी यो विजानीयात् सच ब्रह्म न चान्यथा ॥ ६७ ॥

जो मनुष्य इस शाम्भवी मुद्राको जानते हैं, इसमें सन्देह नहीं, कि वह मूर्तिमान ब्रह्मस्वरूप हैं; यह बात सत्य है, महेश्वरने इस बातको सत्य ही निर्देश किया है ॥ ६७ ॥

इति शाम्भवीमुद्रायाः फलकथनम् ।

अथ पञ्चधारणामुद्राकथनम् ।

कथिता शाम्भवी मुद्रा शृणुष्व पञ्चधारणां ।

धारणानि समासाद्य किं न सिद्ध्यति भूतले ॥ ६८ ॥



शाम्भवी मुद्रा कही जा चुकी; अब पञ्चविध धारणा मुद्रा कही जाती है; सुना। इस पञ्चविध धारणा मुद्राके सिद्ध होनेपर भूमितलमें कोई ऐसा विषय ही नहीं, जो सिद्ध न हो सके ॥ ६८ ॥

अनेन नरदेहेन स्वर्गेषु गमनागमं ।

मनोगतिर्भवेत्तस्य खेचरत्वं न चान्यथा ॥ ६९ ॥

पञ्चविध धारणामुद्राके सिद्ध होनेपर उसके प्रभावसे मनुष्य, मनुष्यदेहसे ही सुरपुरमें गमनागमन कर सकता है और मनोगति तथा खेचरत्व लाभ होता है । ( पञ्चविध धारणा मुद्रा, जैसे—पार्थिवी, आम्भसी, वायवी, आग्नेयी और आकाशी ॥ ६९ ॥

इति पञ्चधारणामुद्राकथनम् ।

अथ पार्थिवीधारणामुद्राकथनम् ।

यत्तत्त्वं हरितालदेशरचितं भौमं लकारान्वितं ।  
वेदासं कमलासनेन सहितं कृत्वा हृदि स्थायिनं ॥  
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकां चिन्तान्वितां धारये-  
देषा स्तम्भकरी क्षितिजयं कुर्यादधोधारणा ॥७०॥

पृथिवीतत्त्वका वर्ण हरिताल जैसा है; लकार इसका बीज है; आकृति चतुष्कोणविशिष्ट, ब्रह्मा इसके देवता हैं । योगके प्रभावसे उस पृथिवीतत्त्वको हृदयमें समुदित कराना चाहिये और चित्तके साथ उसे हृदयदेशमें संयत करते हुए



प्राणवायुको खींचके पांच घड़ीतक कुम्भकयोगसे धारण करना चाहिये । इसे ही पार्थिवीधारणामुद्रा कहते हैं । इसका दूसरानाम अधोधारणा मुद्रा है । योगी मनुष्य इस धारणाका अभ्यास करनेसे इसके प्रभावसे पृथिवीको जीत सकते हैं । इसका तात्पर्य यह है, कि पृथिवी सम्बन्धीय किसी घटनासे उसकी मृत्यु नहीं हो सकती ॥ ७० ॥

इति पार्थिवीधारणामुद्राकथनम् ।

अथ पार्थिवीधारणामुद्रायाः कथनम् ।

पार्थिवी धारणामुद्रां यः करोति दिने दिने ।

मृत्युञ्जयः स्वयं सोपि स सिद्धो विचरेद्भुवि ॥७१॥

जो मनुष्य प्रतिदिन इस पार्थिवीधारणामुद्राका आचरण करते हैं ; वह साक्षात् मृत्युके समान होते हैं और सिद्ध होके क्षितितलमें विचरण करते हैं ॥ ७१ ॥

इति पार्थिवीधारणामुद्रायाः फलकथनम् ।

अथ आम्भसीधारणामुद्राफलकथनम् ।

शब्देन्दु प्रतिमञ्च कुन्दधवलं तत्त्वं किलालं शुभं ।  
तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना ॥



प्राणांस्तत्रविनीयपञ्चघटिकांचित्तान्वितांधारयेदेषा ।  
दुःसहतापनाशनकरी स्यादाम्भसी धारणा ॥७२॥

जलतत्त्वका वर्ण शंख, शशि और कुन्दवत् धवल है, इसकी आकृति चन्द्रके समान है, बक्कार इसका बीज है, विष्णु इसके देवता हैं । योगप्रभावसे हृदयमें इस जलतत्त्वका उदय कराना और प्राणवायुको खींचके एकाग्रचित्तसे पांच घड़ीतक कुम्भक द्वारा धारण करना चाहिये । इसे ही आम्भसी मुद्रा कहते हैं । इस मुद्राका अभ्यास करनेसे जलमें मरनेकी आशङ्का नहीं रहती और असह्य-भव-संताप दूर भागता है ॥ ७२ ॥ \*

इति आम्भसीधारणामुद्राकथनम् ।

अथ आम्भसीमुद्रायाःफलकथनम् ।  
आम्भसीं परमां मुद्रां यो जानातिसयोगवित् ।  
जले गभीरे घोरेचमरणं तस्य नो भवेत् ॥ ७३ ॥

\* अन्य तन्त्रमें आम्भसी धारणामुद्राकी पूणाली इस प्रकार वर्णित है,—

“ नाभिस्थाने ततो वायुं धारयेत् पञ्च घटिकां ।

ततो जलभयं नास्ति जलमृत्युर्न योगिनः ॥ ”

अर्थात्—कुम्भक द्वारा नाभिदेशमें प्राणवायुको पांच घड़ीतक धारण करे, तो योगीको जलसे मृत्युका भय न होगा ।



जो योगवित् साधक इस आम्भसीमुद्राको जानते हैं,  
भीषण गभीर जलमें भी उनकी मृत्यु संघटित नहीं होती ७३  
इयन्तु परमा मुद्रा गोपनीया प्रयत्नतः ।

प्रकाशात् सिद्धिहानिः स्यात् सत्यं वच्मि च तत्त्वतः ७३

यह आम्भसी मुद्रा परम श्रेष्ठ मुद्रा कही जाती है, इसे  
यत्नके साथ छिपाना चाहिये । मैं सत्य कहता हूं, कि इसके  
प्रकाश करनेसे सिद्धिकी हानि होती है ॥ ७४ ॥

इति आम्भसीमुद्रायाः फलकथनम् ।

अथ आग्नेयीधारणामुद्रा कथनम् ।

यन्नाभिस्थितमिन्द्रगोपसदृशं बीजं त्रिकोणान्वितं ।  
तत्त्वं तेजमयं प्रदीप्तमरुणं रुद्रेण यत् सिद्धिदं ॥  
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकांचित्तान्वितांधारये-  
देषकालगभीरभीतिहरणी वैश्वानरी धारणा ॥७५॥

नाभिस्थल अग्नितत्त्वका स्थान है, इसका वर्ण इन्द्रधनुष  
जैसा रक्त है; वकार इसका बीज है; इसकी आकृति त्रिकोण  
और रुद्र इसके देवता हैं । यह तत्त्व तेजःपुञ्जशाली, दीप्तिमान  
और सिद्धिदायक है । यवलेसे इस अग्नितत्त्वको उदितकर  
एकाग्रचित्तेसे पांच घड़ीतक कुम्भकयोगसे प्राणवायुको धारण  
करना चाहिये । इसीका नाम आग्नेयीधारणा मुद्रा है । इसका



अभ्यास करनेसे संसारभय दूरीभूत होता और अग्निसे साधककी मृत्यु संघटित नहीं होती ॥ ७५ ॥ \*

इति आग्नेयीधारणामुद्राकथनम् ।

अथ आग्नेयीधारणामुद्रायाः फलकथनम् ।

प्रदीप्ते ज्वलिते वह्नौ यदा पतति साधकः ।

एतन्मुद्राप्रसादेन सजीवति न मृत्युभाक् ॥ ७६ ॥

यदि साधक जलती आगमें भी गिर जाये, तब भी इस मुद्राके प्रसादसे जीवित रहेगा, उसे कभी कालग्रासमें पतित होना न पड़ेगा ॥ ७६ ॥

इति आग्नेयीधारणामुद्रायाः फलकथनम् ।

\* तन्त्रान्तरमें इस मुद्राकी प्रणाली जिस प्रकार लिखी है, वह यहां दी जाती है;—

नाभ्यूर्ध्वमण्डले वायुं धारयेत् पञ्चघटिकां ।

आग्नेयी धारणा सेयं न मृत्युस्तस्य घह्निना ।

न दह्यते शरीरं हि प्रक्षिप्ते वह्निकुण्डके ॥ ”

अर्थात्—पांच घड़ीतक कुम्भकयोगसे नाभिके ऊर्ध्वभागमें प्राण-वायुको धारण करना चाहिये । इसे ही आग्नेयी धारणा कहते हैं । इस मुद्राका आचरण करनेसे अग्निसे मृत्युका भय नहीं रहता । यदि साधक जलती आगमें डाला जाये, तब भी उसकी देह न जलेगी ।



## अथ वायवीधारणामुद्राकथनम् ।

याद्विन्नाञ्जनपुञ्जसन्निभमिदं धूमावभासं परं ।  
तत्त्वं सत्त्वमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता ।  
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकां चित्तान्वितांधारये—  
देषा स्वे गमनं करोतियमिनां स्याद्वायवीधारणा ७७

वायुतत्त्वका वर्ण मर्दित अञ्जन और धुवें जैसा काला है, यकार इसका बीज और ईश्वर इसके देवता हैं । यह तत्त्व सत्त्वगुणमय है । योगप्रभावसे इस वायुकेतत्त्वको उदित कराके एकाग्रचित्तसे कुम्भक द्वारा प्राणवायुका पांच घड़ीतक धारण करना चाहिये । इसीका नाम वायवीधारणा मुद्रा है । इस मुद्राका आचरण करनेसे वायु द्वारा कभी मृत्यु संघटित नहीं होती और साधक शून्यमें विचरण करनेकी शक्ति पाते हैं ॥ ७७ ॥ \*

## इति वायवीधारणामुद्राकथनम् ।

\* वायवीधारणामुद्राके विषयमें मतान्तमें इस प्रकार वर्णित है,—

“ नाभि भ्रूवोर्हि मध्ये तु प्रादेशद्वयसम्मिते ।

धारयेत् पञ्चघटिका वायुं सैव हि वायवी ।

धारणात्तस्य वायोस्ते भोगिनो न भयं भवेत् ॥ ”

अर्थात्,—नाभि और भौहोंके मध्यमें अर्थात् दोनों स्थानके बीचमें पांच घड़ीतक कुम्भक द्वारा प्राणावायुको धारण करे । इसे ही वायवीधारणा मुद्रा कहते हैं । इस प्रकार वायुको धारण करनेसे योगीको किसी प्रकारका भय नहीं होता ।



अथ वायवीधारणामुद्रायाः फलकथनम् ।

इयन्तु परमा मुद्रा जरामृत्यु विनाशिनी ।

वायुना प्रियते नापि खेहिगतिप्रदायिनी ॥ ७८ ॥

यह मुद्रा श्रेष्ठमुद्राके नामसे प्रसिद्ध है, इससे जरा और मृत्युका विनाश होता है । जो मनुष्य इसका आचरण करते हैं, उनकी मृत्यु वायुसे कभी नहीं होती और यह मुद्रा आकाशमें विचरण करनेकी शक्ति प्रदान करती है ॥ ७८ ॥

शठाय भक्तिहीनाय न देया यस्यकस्यचित् ।

दत्तेचसिद्धिहानिः स्यात्सत्यं वाचिमिह चण्डते ॥ ७९ ॥

जो मनुष्य शठ और भक्तिहीन है, उसे मुद्रा देना न चाहिये । हे चण्डकापाले ! मैं तुमसे सत्य कहता हूँ, कि साधारण मनुष्यको यह मुद्रा प्रदान करनेसे सिद्धिकी हानि होती है ॥ ७९ ॥

इति वायवीधारणामुद्रायाः फलकथनम् ।

अथ आकाशीधारणामुद्राकथनम् ।

यत्सिन्धौ वरशुद्धवारिसदृशं व्योमं परं भासितं ।

तत्त्वं देवसदाशिवेन सहितं वीजं हकारान्वितं ।

प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकां चित्तान्वितां धारये-

देषामोक्षकपाटभेदनकरी कुर्यान्नभोधारणा ॥ ८० ॥



आकाशतत्त्वका वर्ण विशुद्ध सागरके जल जैसा है; सदाशिव इसके देवता और हकार इसका बीज है । इस आकाशतत्त्वको योगप्रभावसे उदितकर एकाग्रमनसे प्राणवायुको स्थिर करके पांच घड़ीतक कुम्भकयोग धारण करना चाहिये । इसे ही आकाशीधारणा मुद्रा कहते हैं; इसका साधन करनेसे देवत्व और मुक्तिलाभ होता है ॥ ८० ॥ \*

इति आकाशीधारणामुद्राकथनम् ।

अथ आकाशीधारणामुद्रायाःफलकथनम्  
आकाशीधारणा मुद्रा यो वेत्ति हि स योगवित् ।  
न मृत्युर्जायते तस्य प्रलये नावसीदति ॥ ८१ ॥

जो मनुष्य आकाशी धारणामुद्रा जानते हैं, वही परम योगवेत्ता हैं । उन्हें किसी प्रकार मृत्युके मुखमें पड़ना नहीं

\* तन्त्रान्तरमें आकाशीधारणामुद्रा इस प्रकार वर्णित है,—

“ भ्रूमध्यादुपरिष्ठान्तु धारयेत् पञ्चनाङ्गिकां ।

वायुं योगी प्रयत्नेन सेयमाकाशीधारणा ।

आकाश धारणाकुर्वन् मृत्युं जयति तत्त्वतः ।

यत्र तत्र स्थितो योगी सुखमत्यन्तं मश्नुते ॥ ”

अर्थात्,—योगी पांच घड़ीतक यत्नके साथ भौंहोंके बीच कुम्भकयोगसे वायुको धारण करे । इसे ही आकाशीधारणा मुद्रा कहते हैं । इस मुद्राके प्रभावसे मृत्यु जीती जा सकती है और योगी चाहें जहां रहें, वहां ही परमसुख पायेंगे ।



पड़ता । अर्थात्, वह इच्छामृत्यु होते हैं और प्रलयकालमें भी अवसन्न नहीं होते ॥ ८१ ॥ \*

इति आकाशीमुद्रायाः फलकथनम् ।

इति पञ्चधारणामुद्राः ।

अथ अश्विनीमुद्राकथनम् ।

आकुञ्चयेद् गुदद्वारं प्रकाशयेत् पुनः पुनः ।

सा भवेदश्विनी मुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी ॥८२॥

बरबार गुह्यदेशको आकुञ्चन और प्रसारण करना

\* पञ्चधारणामुद्राका फल शिवसंहितामें इस प्रकार लिखा है,—

“ मेधावी पञ्चभूतानां धारणां यः समभ्यसेत् ।

शतब्रह्मागतेनापि मृत्युस्तस्य न विद्यते ।

एवञ्च धारणाः पञ्च कुर्याद्योगी विधानतः ।

ततोद्दृशरीरस्य मृत्युरस्य न विद्यते ।

इत्येवं पञ्चभूतानां धारणां यः समभ्यसेत् ।

ब्रह्मणः प्रलये वापि तस्य मृत्युर्न विद्यते ॥ ”

अर्थात्,—जो मेधावी मनुष्य पञ्चधारणाका अभ्यास करते हैं वह शत ब्रह्माके पतनेसे भी मृत्युके सुखमें नहीं पड़ते । अतएव साधक विधिके अनुसार पञ्चविधधारणा मुद्राका आचरण करे । इसके प्रभावसे शरीर दृढ़ होती है और मृत्यु पराजित होती है । जो मनुष्य इस पञ्चभूतधारणा मुद्राका अभ्यास करते हैं, प्रलयके समय भी वह जीवित रहते हैं ।



चाहिये । इसीका नाम अश्विनी मुद्रा है । यह शक्ति प्रबोध-  
कारिणी है ॥ ८२ ॥

इति अश्विनीमुद्रा कथनम् ।

अथ अश्विनीमुद्रायाः फलकथनम् ।

अश्विनी परमा मुद्रा गुह्यरोगविनाशिनी ।  
बलपुष्टिकरी चैव अकालमरणं हरेत् ॥ ८३ ॥

इस परमश्रेष्ठ अश्विनी मुद्राके प्रभावसे गुह्यरोगका  
विनाश होता है । यह बल और पुष्टि साधित करती है और  
इसके प्रभावसे अकालमृत्युके मुखमें पड़ना नहीं पड़ता ।

इति अश्विनीमुद्रायाः फलकथनम् ।

अथ पाशिनी मुद्राकथनम् ।

कण्ठपृष्ठे क्षिपेत्पादौ पाशवद्बन्धनम् ।  
सा एव पाशिनीमुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी ॥ ८४ ॥

दोनों पैर पीछे गरदनपर रख फिर दृढ़ रूपसे बन्धन  
करना चाहिये । इसीका नाम पाशिनी मुद्रा है । यह मुद्रा  
शक्तिप्रबोधकारिणी है ॥ ८४ ॥

इति पाशिनीमुद्राकथनम् ।



अथ पाशिनीमुद्रायाः फलकथनम् ।

पाशिनी महती मुद्रा बलपुष्टिविधायिनी ।

साधनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिकाङ्क्षिभिः ॥ ८५ ॥

पाशिनी परम श्रेष्ठ मुद्रा है; इससे बल और पुष्टि साधित होती है; अतएव सिद्धाकांक्षी साधकगण यत्नके साथ साधना करें ॥ ८५ ॥

इति पाशिनीमुद्रायाः फलकथनम् ।

अथ काकीमुद्रा कथनम् ।

काकचञ्चुवदास्येन पिवेद्वायुं शनैः शनैः ।

काकीमुद्रा भवेदेषा सर्वरोगविनाशिनी ॥ ८६ ॥

अपना मुख कौवेकी चोंचकी तरह बनाके धीरे धीरे वायु पीना चाहिये । इसका ही नाम काकी मुद्रा है । इस मुद्राके प्रभावसे सभी रोगराशिका विनाश होता है ॥ ८६ ॥

इति काकीमुद्रा कथनम् ।

अथ काकीमुद्रायाः फलकथनम् ।

काकीमुद्रा परामुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ।



अस्याः प्रसादमात्रेण निरोगी भवेत्काकवत् ॥८७॥

यह परम श्रेष्ठ काकीमुद्रा सब प्रकारसे गोपनीया कही गई है । इसके प्रसादसे मनुष्य कौवेकी तरह निरोगी शरीर होता है ॥ ८७ ॥

इति काकीमुद्रायाः फलकथनम् ।

अथ मातङ्गिनीमुद्रा कथनम् ।

कण्ठमग्ने जले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत् ।  
मुखान्निर्गमयेत् पश्चात् पुनर्व्वक्त्रेण चाहरेत् ॥८८॥  
नासाभ्यां रेचयेत् पश्चात् कुर्यादेवं पुनः पुनः ।  
मातङ्गिनी परा मुद्रा जरामृत्यु विनाशिनी ॥८९॥

कण्ठतक मग्न जलमें रहकर पहले नाकसे जल ग्रहण करते हुए मुखसे निकाल डालना चाहिये । इसके उपरान्त फिर मुखसे जल ग्रहणकर नाकसे निकालना चाहिये । बार बार ऐसा ही करना चाहिये । इसे ही मातङ्गिनी मुद्रा कहते हैं । इस मुद्राके प्रसादसे जरा और मृत्यु साधकपर आक्रमण नहीं कर सकती ॥ ८८ ॥ ९९ ॥

इति मातङ्गिनीमुद्रा कथनम् ।

अथ मातङ्गिनीमुद्रायाः फलकथनम् ।

विरले निज्जने देशे स्थित्वा त्रैकाग्रमानसः ।



कुर्यान्मातङ्गिनीं मुद्रां मातङ्ग इव जायते ॥६०॥

निर्जर्जन स्थानमें बैठकर एकाग्रचित्तसे मातङ्गिनी मुद्राका आचरण करना चाहिये । इस मुद्राका आचरण करनेसे साधक हाथी जैसे बलशाली होते हैं ॥ ९० ॥

यत्रतत्र स्थितो योगी सुखमत्यन्तमश्नुते ।

तस्मात् सर्वं प्रयत्नेन साधयेत् मुद्रिकां परां ॥९१॥

योगी जिस जगह रहेंगे, इस मुद्राके प्रसादसे परम सुख पायेंगे । अतएव सब तरहसे इस मुद्राका आचरण करना चाहिये ।

इति मातङ्गिनीमुद्रायाः फलकथनम् ।

अथ भुजङ्गिनीमुद्रा कथनम् ।

वक्त्रं किञ्चित् सुप्रसार्य चानिलं गलया पिवेत् ।

सा भवेद् भुजङ्गीमुद्रा जरामृत्यु विनाशिनी ॥९२॥

मुखको कुछ खालकर गलेसे वायु पीए । इसे ही भुजङ्गिनीमुद्रा कहते हैं । यह मुद्रा जरा और मृत्युका विनाश करती है ॥ ९२ ॥

इति भुजङ्गिनी मुद्रा कथनम् ।

अथ मुद्राणां फलकथनम् ।

यावच्च उदरे रोगमजीर्णादि विशेषतः ।



तत् सर्वं नाशयेदाशु यत्रमुद्रामुजङ्गिनी ॥९३॥

उदरके सभी रोग विशेषतः अजीर्ण प्रभृति जो विद्यमान हों वह मुजङ्गिनी मुद्राके प्रभावसे शीघ्र ही ध्वंस होते हैं । ९३ ॥

इति भुजङ्गिनीमुद्रायाः फलकथनम् ।

अथ भुजङ्गिनीमुद्रायाः ।

इदन्तुमुद्रापटलं कथितं चण्डकापाले ।

वल्लभं सर्वसिद्धानां जरामरणनाशनं ॥ ९४ ॥

हे चण्डकापाले ! मैंने तुमसे इन सभी मुद्राओंके विषय कहे । इनसे जरा और मृत्युका विनाश होता है और यह सभी सिद्धगणकी प्रिय हैं ॥ ९४ ॥

शठाय भक्तिहीनाय न देयं यस्यकस्यचित् ।

गोपनीयं प्रयत्नेन दुर्लभं मरुतामपि ॥ ९५ ॥

जो मनुष्य शठ और भक्तहीन है, उसे कभी यह सब मुद्रा प्रदान करना न चाहिये ; हर किसीको इसे देना उचित नहीं । इसे यत्नके साथ छिपाना चाहिये । यह सब मुद्रायें देवगणके लिये भी दुर्लभ हैं ॥ ९५ ॥

ऋजवे शान्तचित्ताय गुरुभक्ति पराय च ।

कुलीनाय प्रदातव्यं भोगमुक्ति प्रदायकं ॥ ९६ ॥



यह मुद्रायें भोग और मुक्ति प्रादान करती हैं; जो मनुष्य ऋजु, शान्तचित्त, गुरुभक्तिपरायण और कुलीन हैं, उन्हें ही यह प्रदान करना चाहिये ॥ ९६ ॥

मुद्राणां पटलं ह्येतत् सर्व्वव्याधिविनाशनं ।  
नित्यमभ्यासशीलस्य जठराग्नि विवर्द्धनं ॥६७॥

यह सब मुद्रायें सब व्याधियोंको विनाश करती है । जो मनुष्य प्रतिदिन इसका अभ्यास करते हैं, उनकी जठराग्नि प्रवर्द्धित होती है ॥ ९७ ॥

तस्य न जायते मृत्युर्नास्य जरादिकं तथा ।  
नाग्निजलभयं तस्य वायोरपि कुतो भयं ॥६८॥

जो मनुष्य इस मुद्राका साधन करते हैं, मृत्यु या जरा उनपर आक्रमण नहीं कर सकती । अग्निभय, जलभय, वायु-भय, किसी प्रकारके भयका सञ्चार होना सम्भव नहीं ॥९८॥

कोसः स्वासः प्लीहा कुष्ठं श्लेष्मरोगांश्च विंशतिः ।  
मुद्राणां साधनाच्चैव विनश्यन्ति न संशयः ॥९९॥

मुद्रा साधन करनेके प्रसादसे कास, स्वास, प्लीहा, कुष्ठ, और बीस प्रकारके श्लेष्मारोग—इन सभीका विनाश होता है ॥ ९९ ॥

बहुना किमिहोक्तेन सारं वच्मिचचण्डते ।  
नास्ति मुद्रासमं किञ्चित् सिद्धिदं क्षितिमण्डलेऽ००॥



हे चण्ड ! अब तुमसे और अधिक क्या कहूं तत्त्व यह है,  
कि धरातलमें मुद्राके समान सिद्धिप्रद और कुछ नहीं ॥१००॥

इति श्रीघेरण्डसंहितायां घेरण्डचण्डसंवादे  
घटस्थयोगप्रकरणे मुद्राप्रयोगो नाम  
❀ तृतीयोपदेशः ❀





॥ श्रीः ॥

## ❀॥ चतुर्थोपदेशः ॥❀

श्रीधेरण्ड-उवाचः ।

अथातः संप्रवक्ष्यामि प्रत्याहारकमुत्तमम् ।

यस्य विज्ञानमात्रेण कामादिरिपुनाशनं ॥ १ ॥

श्रीधेरण्डनं कहा,—“इसके उपरान्त मैं अनुत्तम प्रत्याहार योग कहता हूँ । इसके जाननेसे काम, क्रोध, लोभ, मोह मद और मात्सर्य इन छः आं शत्रुओंका विनाश होता है १ ।  
नतस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २ ॥

चित्त जिन जिन विषयोंसे चञ्चल होकर घूमता है, उन उन विषयोंसे चित्तको आहरण करके अर्थात् हटाके आत्मामें प्राप्तकरे; इसको प्रत्याहार कहते हैं ॥ २ ॥

पुरस्कारं तिरस्कारं सुश्राव्यं भावमायकं ।

मनस्तस्मान्नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ ३ ॥

पुरस्कार, तिरस्कार, सुश्राव्य, आदिक जितने विषय संसारमें हैं; सब मायाका प्रपञ्च है; इसलिए मनको प्रत्याहार से नियमित करके आत्मामें यांजितकरे ॥ ३ ॥

सुगन्धोवापि दुर्गन्धो घ्राणेषु जायते मनः ।

तस्मात् प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ ४ ॥



सुगन्ध हो या दुर्गन्ध मन चञ्चल होके उसतरफ जाता है,  
इसलिये मनको प्रत्याहार करके आत्मामें लगावे ॥ ४ ॥

मधुराम्लकतिक्तादि रसादिषु यदा मनः ।  
तस्तात् प्रत्याहरेदेतदात्मान्येव वशं नयेत् ॥ ५ ॥

मीठा खदा, तीता आदिक जितने रस है उनमें मन  
जाता है इसलिये प्रत्याहार करके मनको आत्मामें  
लगावे ॥ ५ ॥

इति श्रीघेरण्डसंहितायां गेरण्डचण्डसंवादे

प्रत्याहार प्रयोगोनाम चतुर्थोपदेशः

समाप्तः





॥ श्रीः ॥

## ॥ पञ्चमोपदेशः ॥

श्रीघेरण्ड-उवाच ।

अथातः संप्रवक्ष्यामि प्राणायामस्य यद्विधिं ।

यस्य साधनमात्रेण देवतुल्यो भवेन्नरः ॥ १ ॥

श्रीघेरण्डने कहा,—“ इसके उपरान्त मैं प्राणायामकी विधि वर्णन करता हूँ । प्राणायामका साधन करनेसे मनुष्य देवता जैसा होता है ॥ १ ॥

आदौस्थानं तथा कालं मिताहारं तथापरं ।

नाडीशुद्धिञ्च तत् पश्चात् प्राणायामञ्चसाधयेत् ॥ २ ॥

प्राणायामका साधन करनेके लिये चार विषयोंकी आवश्यकता है । पहले उपयुक्त स्थान और ठीक समय, इसके उपरान्त मित-आहारका अभ्यास, अन्तमें नाड़ी शुद्धि । इन चारोंके साधित होनेसे तब प्राणायामका अभ्यास करना चाहिये ॥ २ ॥

अथ स्थाननिर्णयः ।

दूरदेशे तथारण्ये राजधान्यां जनान्तिके ।

योगारम्भं न कुर्वीत कृते च सिद्धिहा भवेत् ॥ ३ ॥

दूरदेशमें, वनमें, राजधानीमें और मनुष्योंके पास योगा-



रम्भ करना उचित नहीं । इन सब स्थानोंमें योगका साधन करनेसे सिद्धिकी हानि हांती है ॥ ३ ॥

अविश्वासं दूरदेशे अरण्ये रक्षिवर्जितं ।  
लोकारण्ये प्रकाशश्च तस्मात्त्रीणिविवर्जयेत् ॥ ४ ॥

दूरदेशमें योगसाधन करनेसे अविश्वास होता है, वनमें योगसाधन करनेसे रक्षकशून्य हो रहना पड़ता है और मनुष्योंके पास योगसाधन करनेसे योग प्रकाशित होता है । सुतरां यह तीनों स्थान योगसाधनके विषयमें त्यागके योग्य हैं ।

सुदेशे धार्मिके राज्ये सुभक्ष्ये निरुपद्रवे ।  
तत्रैकं कुटीरं कृत्वा प्राचीरैः परिवेष्टितं ॥ ५ ॥  
वापीकूपतडागश्च प्राचीरमध्यवर्त्तिच ।  
नात्युच्चं नातिनिम्नश्च कुटीरं कीटवर्जितं ॥ ६ ॥  
सम्यग्गोमयलिसश्च कुटीरन्तत्र निर्मितं ।  
एवं स्थानेषु गुप्तेषु प्राणायामं समभ्यसेत् ॥ ७ ॥

जिस देशका राजा धर्मपरायण हो, जहां उत्तम भोजनकी वस्तुएँ पाई जायें, जिस देशमें किसी प्रकारका उपद्रव न हो; ऐसे देशमें एक कुटी बनाना चाहिये । उस कुटीको चारोओरसे प्राचीर द्वारा परिवेष्टित करे और प्राचीरके मध्यवर्त्ती स्थानमें बावली या कूप या तालाब आदि जलाशय होना चाहिये । कुटी बहुत ऊंची या नीची न हो; और उत्तमरूपसे गोबर द्वारा लिपी हो; किसी प्रकारके कीड़े आदि उसमें न



हों । इस प्रकार कुटी बनाकर उस सुरक्षित या गोप्य स्थानमें प्राणायामका आचरण करना चाहिये ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

इति स्थाननिर्णयः ।

अथ कालनिर्णयः ।

हेमन्ते शिशिरे ग्रीष्मे वर्षायाञ्च ऋतौ तथा ।

योगारम्भं न कुर्वीत कृते योगी हि रोगदः ॥ ८ ॥

हेमन्त, शीत, ग्रीष्म और वर्षा, इन चारों ऋतुओंमें योगारम्भ करना ठीक नहीं । इन सब ऋतुओंमें योगारम्भ करनेसे वह योगीके लिये रोगोत्पादन करता है ॥ ८ ॥

वसन्ते शरदिप्रोक्तं योगारम्भं समाचरेत् ।

तथायोगी भवेत् सिद्धो रोगान्मुक्तोभवेध्रुवः ॥ ९ ॥

वसन्त और शरत् इन दो ऋतुओंमें योगारम्भ करना ठीक है । इन दोनों ऋतुओंमें योगारम्भ करनेसे योगी सिद्ध और रोगरहित होते हैं, इसमें कुछ सन्देह नहीं ॥ ९ ॥

चैत्रादिफाल्गुनान्ते च माघादि फाल्गुनान्तिके ।

द्वौ द्वौ मासौ ऋतुभागौ अनुभावश्चतुश्चतुः ॥ १० ॥

चैत्र महीनेसे फाल्गुन महीनेतक बारह महीनाओंमें छः ऋतु होते हैं और माघ महीनेसे ( दूसरे वर्षके ) फाल्गुन महीनेतक चौदह महीनेमें छः ऋतुका अनुभव होता है । दो दो महीने पर एक एक ऋतु और चार चार महीनेपर एक एक ऋतुका अनुभव होता है ॥ १० ॥



वसन्तश्चैत्र वैशाखौ ज्येष्ठाषाढौ च ग्रीष्मकौ ।  
वर्षा श्रावणभाद्राभ्यां शरदाश्विन कार्तिकौ ॥  
मार्गपौषौ च हेमन्तः शिशिरो माघफाल्गुनौ ॥ ११ ॥

चैत्र और वैशाख, यह दो महीने वसन्तऋतुके हैं । ज्येष्ठ और आषाढ़ यह दो महीने ग्रीष्मके, श्रावण और भाद्र यह दो महीने वर्षाके, आश्विन और कार्तिक यह दो महीने शरत्के, अगहन और पौष यह दो महीने हेमन्त ऋतुके हैं । और माघ फाल्गुन यह दो महीने शिशिर ऋतुक हैं ॥ ११ ॥

अनुभावं प्रवक्ष्यामि ऋतूनाञ्च यथोदितं ।

माघादि माघवान्तेषु वसन्तानुभवश्चतुः ॥ १२ ॥

चैत्रादि चासाढ़ान्तञ्च निदाघानुभवश्चतुः ।

आषाढ़ादि चाश्विनान्तं प्रावृषानुभवश्चतुः ॥ १३ ॥

भद्रादिमार्गशीर्षान्तं शरदोऽनुभवश्चतुः ।

कार्तिकादि माघमासान्तं हेमन्तानुभवश्चतुः ।

मार्गादि चतुरोमासान् शिशिरानुभवं विदुः ॥ १४ ॥

अब मैं जिन जिन महीनोंमें जिन जिन ऋतुओंका अनुभव होता है, वह कहता हूं । माघसे वैशाखतक चार महीनेमें वसन्तऋतुका अनुभव होता है, चैत्रसे आषाढ़तक चार महीनेमें ग्रीष्म ऋतुका अनुभव होता है, आषाढ़से आश्विनतक वर्षाऋतुका अनुभव होता है, भाद्रसे अगहनतक चार महीनेमें शरत् ऋतुका अनुभव होता है, कार्तिकसे माघतक चार महीनेमें हेमन्त ऋतुका अनुभव होता है और अगहनसे फाल्गुनतक चार महीनेमें शीतऋतुका अनुभव होता है १२-१४



( १०१ )

वसन्ते वापि शरदि योगारम्भं समाचरेत् ।  
तदा योगो भवेत् सिद्धो बिनायासेन कथ्यते ॥ १५ ॥

वसन्त और शरत् ऋतुमें ही योगारम्भ करना चाहिये ।  
इन दोनों ऋतुओंमें योगारम्भ करनेसे थोड़े परिश्रमसे सिद्धि  
मिलती है ॥ १५ ॥

इति कालनिर्णयः ।

अथ मिताहारः ।

मिताहारं बिनायस्तु योगारम्भन्तु कारयेत् ।  
नानारोगो भवेत्तस्य किञ्चिद्योगो न सिध्यति ॥ १६ ॥

जो मनुष्य बिना परिमित आहार किये योगारम्भ  
करते हैं, उन्हें तरह तरहके रोगोंसे आक्रान्त होना पड़ता है  
और उनका योग कुछ भी सिद्ध नहीं होता ॥ १६ ॥

शाल्यन्नं यवपिण्डम्बा गोधूमापण्डकं तथा ।  
मुद्गां माषचणकादि शुभ्रञ्च तूषवर्जितं ॥ १७ ॥

योगी मनुष्यको शालिधान्यका अन्न, यव, गेहूँके आटाकी  
रोटी, मूँगकी दाल, उड़दकी दाल, चना यह सब द्रव्य भोजन  
करना चाहिये । किन्तु यह सब वस्तु भूसी रहित होना  
चाहिये ॥ १७ ॥

पटोलं पनसं मानं ककोलञ्च शुकाशकं ॥  
द्रादिकां कर्कटीं रम्भां डुम्बरीं कण्टकण्टकं ॥ १८ ॥



परवल, कटहर, मानकचु, कक्कोल, वेर, करझ, ककड़ी,  
केला, गूलर, यह सब वस्तुयें योगी भोजन करें ॥१८॥

आमरम्भां बालरम्भां रम्भादण्डञ्च मूलकं ।

वार्साकीं मूलकं ऋद्धिं योगी भोजन माचरेत् ॥१९॥

कच्चा केला, पक्का केला, रम्भादण्ड, मूली, भण्डा,  
और ऋद्धि यह सब वस्तुयें योगियोंको भक्षण करना  
उचित है ॥ १९ ॥

बालशाकं कालशाकं तथा पटोलपत्रकं ।

पञ्चशाकं प्रशंसीया द्वास्तृकं हिलमोचिकां ॥२०॥

भंगरइया, कालशाक, परवलका पत्ता, वेतोशाक और  
करमूका शाक यह पांच प्रकारके शाक योगियोंके खाने  
योग्य हैं ॥ २० ॥

शुद्धं सुमधुरं स्निग्धं उदराद्धं विवर्जितं ।

भुज्यते सुरसं प्रीत्या मिताहारमिमं विदुः ॥ २१ ॥

निर्मल, सुमधुर, स्निग्ध और सुरस द्रव्यका सन्तोषके  
साथ भोजन आधा पेट करना चाहिये और आधापेट खाली  
रखना चाहिये। इसे ही पण्डित लोग मिताहार कहते हैं ॥२१॥

अग्नेन पूरयेदूर्ध्वं तोयेन तु तृतीयकं ।

उदरस्य तुरीयांशं संरक्षेद्वायुचारणे ॥ २२ ॥

उदरका आधाभाग अन्नभोजन द्वारा परिपूर्ण करना  
चाहिये और जल पीकर तीसरा अंश पूरा करना उचित है  
और वायुचालनके लिये चौथा अंश खालीरखना चाहिये ॥२२॥



कटुम्बं लवणं तिक्तं भृष्टञ्च दधितक्रकम् ।  
 शाकोत्कटं तथा मद्यं तालञ्च पनसन्तथा ॥ २३ ॥  
 कुलत्थं मसूरं पाण्डुं कुष्माण्डं शाकदण्डकं ।  
 तुम्बीकोलकपित्थञ्च कण्टविल्वं पलाशकं ॥ २४ ॥  
 कदम्बं जम्बीरं बिम्बं लकुचं लशुणं विषं ।  
 कामरङ्गं पियालञ्च हिङ्गुशाल्मलीकेमुकं ।  
 योगारम्भे वर्जयेत् पथस्त्रीवह्नि सेवनं ॥ २५ ॥

कड़वा, खट्टा, नमक, तीता यह चार प्रकारकी रसान्वित वस्तुयें, भृष्टद्रव्य, ( भुनीचीज ) इही, मण्टा, घृणित शाक, सुरा, ताल, पक्का कटहल, कुलत्थ, मसूर, पाण्डु नामक फल, कुम्हड़ा, शाकदण्ड, तुम्बी, कुल, कपित्थ ( कैथ ) कण्टविल्व, पलाश, कदम्ब, जम्बीर, बिम्ब, लकुट, लहसुन, मृणाल, कामरङ्ग, पियाज, हीङ्ग, शाल्मली और केमूक, योगारम्भके समय योगियोंका इन सब द्रव्योंका भोजन करना उचित नहीं । राह चलना, स्त्री-सहवास और आग तापना भी योगारम्भमें मना है ॥ २३-२५ ॥

नवनीतं घृतं क्षीरं गुडं शक्रादि चैक्षवं ।  
 पक्करम्भां नारिकेलं दाडिममशिवासवं ।  
 द्राक्षान्तु नवनीं घात्रीं रसमम्लं विवर्जितम् ॥ २६ ॥

योगारम्भमें नवनीत, घृत, दूध, गुड़, ऊखसे बनी शकर प्रभृति पक्का कला नारियल, अनार, अंगूर, नवनीफल, आंवला आदि रसान्वित वस्तुओंका खट्टारहित भाजन करना ठीक है ॥



एलाजातिलवङ्गश्च पौरुषं जम्बु जाम्बुलं ।

हरीतकीं खज्जूरञ्च योगी भक्षणमाचरेत् ॥ २७ ॥

एलायची, जायफल, लवङ्ग, तेजोदायक वस्तु, जम्बु, हरीतकी और खज्जूर यह सब द्रव्य योगारम्भमें योगी मनुष्यको भोजन करना चाहिये ॥ २७ ॥

लघुपाकं प्रियं स्निग्धं यथा धातुप्रपोषणं ।

मनोऽभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत् ॥ २८ ॥

जो सब भोजन करनेसे सहज हीमें परिपाक हों, जो स्निग्ध हों, जिससे धातुकी पुष्टी साधित होती हो, ऐसे प्रियकर वस्तुओंका भोजन करना ही योगियोंका कर्त्तव्य है ॥ २८ ॥

षर्यूपितं पूतिमुष्णं काठिन्यं दुरितं तथा ।

अतिशीतञ्चाति चोग्रं भक्ष्यं योगी विवर्जयेत् ॥ २९ ॥

वह द्रव्य जो कठिन हो, जिसके भोजनसे पातक होता हो, जो दुर्गन्ध विशिष्ट, अत्यन्त गरम, बासी, बहुत ही शीतल और उग्र हो, उन सब द्रव्योंका भोजन करना योगियोंके लिये मना है ॥ २९ ॥

प्रातः स्नानोपवासादि कायक्लेशविधिं बिना ।

एकाहारं निराहारं यामान्ते च न कारयेत् ॥ ३० ॥

प्रातःस्नान, उपवास, शरीरको क्लेश देना, एकवार भोजन करना, निराहार रहना या पहर भरपर भोजन करना, यह सभी योगियोंके लिये मना हैं ॥ ३० ॥



एवं विधिविधानेन प्राणायामं समाचरेत् ।  
 आरम्भं प्रथमे कुर्यात् क्षीराज्यं नित्यभोजनं ।  
 मध्याह्न चैव सायाह्ने भोजनं द्वयमाचरेत् ॥ ३१ ॥

इस प्रकार नियमके साथ प्राणायामका अभ्यास करना चाहिये । प्राणायाम करनेसे पहले दूध और घीका सेवन करना चाहिये । दोपहर और सन्ध्या समय केवल दो बार भोजन करना चाहिये ॥ ३१ ॥

इति मिताहार कथनम् ।

अथ नाडीशुद्धिः ।

कुशासने मृगाजिने व्याघ्राजिने च कम्बले ।  
 स्थालासने समासीनः प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः ।  
 नाडीशुद्धिं समासाद्य प्राणायामं समभ्यसेत् ॥ ३२ ॥

कुशासन, मृगचर्म, वाघचर्म, कम्बल या जमीन पर प्राङ्मुख या उत्तर मुँह बैठके नाडीको शुद्धकरके प्राणायामके साधनका अभ्यास करना चाहिये ॥ ३२ ॥

चण्डकापालिरुवाच ।

नाडीशुद्धिं कथं कुर्यान्नाडीशुद्धिस्तु कीदृशी ।  
 तत् सर्वं श्रोतुमिच्छामि तदुदस्व दयानिधे ॥ ३३ ॥

चण्डकापालिने कहा,—“ हे दयानिधे ! नाडीशुद्धि किस



प्रकार करना चाहिये, नाड़ीशुद्धि कैसी है, उसे सविशेषरूपसे सुननेकी मेरी इच्छा हुई है; अतएव आप कहिये । ”

## श्रीघेरण्ड-उवाच ।

मलाकुलाषु नाडीषु मारुतो नैव गच्छति ।  
प्राणायामं कथं सिद्धस्तत्त्वज्ञानं कथं भवेत् ॥  
तस्मादादौ नाडीशुद्धिं प्राणायामं ततोऽभ्यसेत् ॥ ३४ ॥

श्रीघेरण्डने कहा,—“ मलाकुल नाड़ीके भीतर वायु प्रवाहित नहीं होती; सुतरां प्राणायामका साधन कैसे हो और कैसे तत्त्वज्ञानका सञ्चार हो ? इसलिये पहले नाड़ी-शुद्धि करे फिर प्राणायामका अभ्यास करना चाहिये ॥ ३४ ॥

नाडीशुद्धिद्विधाप्रोक्ता समनुनिर्मनुस्तथा ।  
बीजेन समनुं कुर्यान्निर्मनु धौतकर्मणा ॥ ३५ ॥

नाड़ीशुद्धि दो प्रकारकी होती हैं; समनु और निर्मनु । बीजमन्त्र द्वारा जो नाड़ीशुद्धि की जाती है, उसे समनु और धौतिकर्मसे जो नाड़ीशुद्धि होती है, उसे निर्मनु नाड़ीशुद्धि कहते हैं ॥ ३५ ॥

धौतकर्म पुराप्रोक्तं षट्कर्मसाधने यथा ॥  
शृणुष्व समनुं चण्ड नाडी शुद्धिं यथाभवेत् ॥ ३६ ॥

हे चण्ड ! षट्कर्मके वर्णनके समय मैंने धौतकर्म कहे हैं; अब जिसप्रकार समनु नाड़ीशुद्धि होती है, वह सुनो ॥

उपविश्यासने योगी पद्मासनं समाचरेत् ।



गुर्वादिन्यासनं कुर्याद् यथैव गुरुभाषितं ।  
नाडीशुद्धिं प्रकुर्वीत प्राणायाम विशुद्धये ॥ ३७ ॥

सबसे पहले पद्मासनसे बैठके गुरुके आज्ञानुसार आसन प्राणायाम साधन करके नाडीशुद्धि करना चाहिये ॥ ३७ ॥

वायुबीजं ततो ध्यात्वा धूम्रवर्णं सतेजसं ।  
चन्द्रेणपूरये द्वायुबीजं षोडशकैः सुधीः ॥ ३८ ॥  
चतुः षष्ट्या मात्रया च कुम्भकेनैव धारयेत् ।  
द्वात्रिंशन्मात्रयावायुं सूर्यनाड्या च रेचयेत् ॥ ३९ ॥

इसके बाद वायुबीज \* का ध्यान करके उस बीजके सोलह मात्रासे वाम नासिकासे वायुद्वारा परिपूरण करना चाहिये । ध्यानके समय उस वायुबीजको तेजोमय और धूम्र-वर्ण समझना चाहिये । चौसठमात्रा संख्या द्वारा कुम्भक करते हुए धारण करना चाहिये और वत्तिस मात्रा द्वारा दाहिने नाकसे रेचन करना चाहिये ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

नाभिमूलाद्बहिमुत्थाप्य धायेत्तेजोऽवनीयुतं ।  
बह्विबीजंषोडशेन सूर्यनाड्यां च पूरयेत् ॥ ४० ॥  
चतुःषष्ट्या मात्रया च कुम्भकेनैव धारयेत् ।  
द्वात्रिंशन्मात्रया वायुं शशिनाड्या च रेचयेत् ॥ ४१ ॥

नाभिमूल अग्नितत्त्वका स्थान है । योगप्रभावसे उस नाभिमूलसे अग्नितत्त्वको उठाकर उसे पृथिवीतत्त्व और

\* वायुबीज अर्थात् " यं " बीज ।



अग्नितत्त्वमें संयुक्त करते हुए ध्यान करना चाहिये । इसके उपरान्त सोलह मात्रासे अग्निबीजको \* दाहिने नासिकासे वायुद्वारा पूरण करना चाहिये । इस प्रकार चौसठ मात्रा द्वारा कुम्भककरके वायुधारण करे और बत्तीस मात्रासे वाम नासिका द्वारा उस वायुको रेचन करना चाहिये ॥४०॥४१॥

नासाग्रे शशधृग्विम्बं ध्यात्वा ज्योत्स्ना समन्वितं ।  
ठंबीजषोडशेनैव ईडया पूरयेन्मरुत् ॥ ४२ ॥

चतुःषष्ट्या मात्रयाच रं बीजै नैवधारयेत् ।  
अमृतं प्लावितं ध्यात्वा नाडीधौतं विभावयेत् ।  
लकारेण द्वात्रिंशेन दृढं भाव्यं विरेचयेत् ॥ ४३ ॥

नासिकाके अगले भागमें किरन सहित चन्द्रविम्बका ध्यान करके “ ठ ” बीजके षोडशमात्रा द्वारा वामनासिकासे वायु पूरण करना चाहिये इसके बाद अग्नि बीज अर्थात् “ रं ” बीजके चौसठमात्रा द्वारा कुम्भकयोगसे वायुको धारण करे । इसके बाद ऐसा ध्यान करना चाहिये, कि शुद्धसुषुम्ना नाड़ीमें चन्द्रविम्बसे सुधाधारा विगलित हो रही है, इस प्रकार ध्यान करके पृथिवी बीज अर्थात् “ लं ” बीजके बत्तीस मात्रासे दाहिनी नासिका द्वारा उस पूरितवायुको रेचन करना चाहिये ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

एवंविधां नाडीशुद्धिं कृत्वानाडीं विशोधयेत् ।  
दृढो भूत्वासनं कृत्वा प्राणायामं समाचरेत् ॥४४॥

\* अग्निबीज अर्थात् “ रं ” बीज ।



इस प्रकार नाड़ी शोधन और शुद्ध करके और मनको दृढ़ करके प्राणायामका अभ्यास करना चाहिये ॥ ४४ ॥

सहितः सूर्यभेदश्च ऊर्जायी शीतली तथा ।

भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा केवली चाष्टकुम्भिका । ४५ ।

कुम्भक आठ प्रकारके हैं; सहित, सूर्यभेद, उर्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और केवली ॥ ४५ ॥

सहितो द्विविधः प्रोक्तः प्राणायामं समाचरेत् ।

सगर्भो बीज मुच्चार्य निर्गर्भो बीजवर्जितः ॥ ४६ ॥

सहित कुम्भक दो प्रकारके हैं, सगर्भ और निर्गर्भ । जो कुम्भक बीजमंत्र समुच्चारण करनेसे साधित होता है, उसे सगर्भ और जो कुम्भक बीजमन्त्र-वर्जित है, उसे निर्गर्भ कुम्भक कहते हैं ॥ ४६ ॥

प्राणायामं सगर्भञ्च प्रथमं कथयामिते ।

सुखासनेचोपविश्य प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः ।

ध्यायेद्विधिं रजोगुणं रक्तवर्णमवर्णकं ॥ ४७ ॥

अब आगे मैं यह कहता हूँ, कि सगर्भ प्राणायाम किस प्रकार साधित होता है । पूर्वमुख या उत्तर मुख होके सुखासनसे बैठ ब्रह्माका ध्यान करना चाहिये । ब्रह्मा शोणितवर्ण अकाररूपी और रजोगुणविशिष्ट हैं ॥ ४७ ॥

इदया पूरयेद्वायुं मात्रया षोडशैः सुधीः ।

पूरकान्ते कुम्भकाद्येकर्तव्यस्तूङ्घीयानकः ॥ ४८ ॥



इसके बाद धीमान् साधक " अं " बीजके शोडशमात्रासे वाम नासिका द्वारा वायुको पूरण करें । कुम्भक करनेसे पहले और वायु पूरण करनेके अन्तमें उड्डीयानबन्धका आचरण करना चाहिये ॥ ४८ ॥

सत्त्वमयं हरिं ध्यात्वा उकारं कृष्णवर्णकं ।

चतुःषष्ट्या मात्रया च कुम्भकेनैव धारयेत् ॥ ४९ ॥

इसके उपरान्त सत्त्वगुणसंयुक्त, उकाररूपी, कृष्णवर्ण हरिका ध्यानकर " ॐ " बीजके चौसठ मात्रा द्वारा कुम्भक-योगसे वायु धारण करना चाहिये ॥ ४९ ॥

तमोमयं शिवं ध्यात्वा मकारं शुक्लवर्णकं ।

द्वात्रिंशन्मात्रया चैव रेचयेद्विधिना पुनः ॥ ५० ॥

इसके उपरान्त तमोगुण संयुक्त मकाररूपी श्वेतवर्ण शिवका ध्यानकर " मं " इस बीजके वत्तीस मात्रा द्वारा दाहिनी नाकसे पूरित वायुको रेचन करना चाहिये ॥ ५० ॥

पुनः पिङ्गलयापूर्यकुम्भकेनैव धारयेत् ।

ईड्या रेचयेत् पश्चात् तद्वीजेन क्रमेण तु ॥ ५१ ॥

इसके उपरान्त फिर उक्त प्रकारसे बीजके क्रम द्वारा दाहिनी नाकसे वायु पूरणकरके उसे कुम्भक योगसे धारणकर इसके बाद बाई नासिकासे रेचन करना चाहिये ॥ ५१ ॥

अनुलोमविलोमेन बारंबारञ्च साधयेत् ।

पूरकान्ते कुम्भकान्तं धृतनासापुटद्वयं ।

केनिष्ठानामिकाङ्गुष्ठैः तर्ज्जनी मध्यमां बिना ॥ ५२ ॥



इस प्रकार बार बार अनुलोमविलोमके क्रमसे प्राणायाम-का अनुष्ठान करना चाहिये । वायु पूरणके बादसे कुम्भकके बादतक तर्जनी और मध्यमाके अतिरिक्त कनिष्ठा अनामिका और अंगुष्ठ इन तीनों उंगलियोंसे दोनों नासापुटको पकड़ना चाहिये; अर्थात् जिस समय कुम्भक किया जाये, उस समय वामनासिका कनिष्ठा और अनामिका द्वारा और दक्षिण नासिका केवल अंगूठे द्वारा पकड़ना चाहिये ॥ ५२ ॥

प्राणायामं निर्गर्भन्तु बिना बीजेन जायते ।

एकादि शत पर्यन्तं पूरकुम्भक रेचनं ॥ ५३ ॥

बिना बीज मन्त्रके निर्गर्भ प्राणायाम होता है । पूरक, कुम्भक और रेचक, इन तीन अङ्ग समन्वित प्राणायामके साधनमें एकसे एकसौतक मात्रायें हैं ॥ ५३ ॥ \*

उत्तमा विंशतिमात्रा षोडशीमात्रा मध्यमा ।

अधमाद्द्वादशीमात्रा प्राणायामास्त्रिधास्मृताः ॥ ५४ ॥

मात्राके अनुसार प्राणायाम तीन प्रकारके हैं,—बीस-मात्रा, सोलह मात्रा और बारह मात्रा । बीस मात्रेका प्राणायाम उत्तम, सोलह मात्रेका मध्यम और बारह मात्रेका प्राणायाम अधम है ॥ ५४ ॥ \*

---

\* पूरकमें एकगुण मात्रा रेचकमें द्विगुण और कुम्भकमें चतुर्गुण मात्रायें हैं ॥ ५३ ॥

\* उत्तममात्रा प्राणायामका साधन करनेके लिये पूरकमें बीसमात्रा, कुम्भकमें अस्सीमात्रा और रेचकमें चालीस मात्रायें निर्दिष्ट हैं । इसी प्रकार मध्यम और अधम मात्राका प्राणायाम साधनेके लिये चौगुने और दुगुने कुम्भक और रेचकसे संख्याका निरूपण कर लेना चाहिये ।



अधमाज्ञायते घर्म्म मेरुकम्पञ्चमध्यमात् ।

उत्तमाच्च भूमित्यागस्त्रिविधं सिद्धि लक्षणं ॥ ५५ ॥

अधममात्राके प्राणायामका साधन करनेसे देहसे पसीना निकलता है; मध्यममात्राके प्राणायामका साधन करनेसे मेरुकम्प अर्थात् शरीर कांपता है और उत्तममात्रासे प्राणायामका साधन करनेसे भूमित्यागकी शक्ति उत्पन्न होती है । अर्थात् साधक भूमिसे शून्यमें उठकर विचरण कर सकते हैं । पसीना निकलना, मेरुकम्प होना और भूमित्याग होना यह तीनों प्राणायाम सिद्धिके चिह्न हैं ॥ ५५ ॥

प्राणायामात् खेचरत्वं प्राणायामात् रोगनाशनं ।

प्राणायामाद्बोधयेच्छक्तिं प्राणायामान्मनोन्मनी ।

आनन्दो जायते चित्ते प्राणायामी सुखी भवेत् ॥ ५६ ॥

प्राणायामके साधनके प्रभावसे खेचरत्व शक्ति उत्पन्न होती अर्थात् साधक शून्यमें गमन कर सकते हैं और इसके प्रसादसे रोगराशि दूर होती है और इस प्राणायामके प्रसादसे परमात्मशक्ति प्रबोधित होती है । इसके प्रभावसे दिव्य ज्ञान मिलता है । जो मनुष्य प्राणायामका साधन करते हैं, उनके चित्तमें अनिर्वचनीय आनन्द उत्पन्न होता है और वह परम सुखी होते हैं ॥ ५६ ॥

अथ सूर्यभेदकुम्भकः ।

घेरण्ड-उवाच ।

कथितं सहितं कुम्भं सूर्यभेदनकं शृणु ।

पूरयेत् सूर्यनाड्या च यथाशक्ति वहिर्मरुत् ॥ ५७ ॥



धारयेद्बहुयत्नेन कुम्भकेन जलन्धरैः ।

यावत् स्वेदं नखकेशाभ्यां तावत् कुर्वन्तुकुम्भकं ॥ ५८ ॥

श्रीधेरण्डने कहा,—“ चण्डकापाले ! तुमसे सहित कुम्भ-  
कका विवरण कहा, अब सूर्यभेद नामक कुम्भकका विषय  
कहता हूँ, सुनो ! सबसे पहिले जालन्धरबन्धके अनुष्ठानसे  
दाहिनी नासिका द्वारा वायुपूरण करना चाहिये । बहुत ही  
यत्नके साथ कुम्भक योगसे उस वायुको धारण करना  
चाहिये ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

प्राणोऽअपानः समानश्चोदानव्यानौ तथैव च ।

नागः कुर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ॥ ५९ ॥

प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान यह पांचो प्राण  
वायु हैं और नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय यह  
पांच वायु शरीरस्थ हैं ॥ ५९ ॥

हृदि प्राणो बहे नित्यं अपानो गुदमण्डले ।

समानो नाभिदेशो तु उदानः कण्ठमध्यगः ॥ ६० ॥

व्यानो व्याप्य शरीरे तु प्रधनाः पञ्चवायवः ।

प्राणाद्याः पञ्चविख्याता नागाद्याः पञ्च वायवः ॥ ६१ ॥

प्राण हृदयमें, अपान गुदादेशमें समान नाभिमें, उदान  
कण्ठमें और व्यान वायु समस्त देहमें फैलकर प्रवाहित होती  
है । यह पांचो प्राणवायु प्रधान विख्यात हैं और नाग,  
कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय, यह पांचो शरीरस्थ वायु  
हैं ॥ ६०—६१ ॥



तेषामपि च पञ्चानां स्थानानि च वदाम्यहं ।

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्मस्तून्मीलनेऽमृतः ॥६२॥

कृकरः क्षुत्कृते ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ।

न जहाति मृते कापि सर्व्वव्यापी धनञ्जयः ॥६३॥

यह पांचो शरीरस्थ वायु जिन जिन स्थानोंमें प्रवाहित होती हैं, वह कहता हूं । नागवायु उद्गारमें, कूर्मवायु उन्मीलनमें, कृकर वायु क्षुधाकार्यमें, देवदत्तवायु जम्हाईमें प्रवाहित होती है, और धनञ्जय नामक वायु देहत्याग होनेपर भी मृत शरीरमें प्रवाहित रहती है ॥ ६२—६३ ॥ \*

नागोगृह्णति चैतन्यं कूर्मश्चैव निमेषणं ।

क्षुत्कृट् कृकरश्चैव जृम्भणं चतुर्थेन तु ।

भवेद्धनञ्जयाच्छब्दं क्षणमात्रं न निःसरेत् ॥६४॥

नागवायु चैतन्यतासम्पादन करती है कूर्मवायुसे नोद आती है कृकरवायुसे भूख-प्यास और देवदत्तवायु द्वारा जृम्भणकार्य साधित होता है । धनञ्जय वायुसे शब्द होता है, यह वायु किसी अवस्थामें भी देहको त्याग नहीं करती ॥ ६४ ॥ \*

\* उद्गार—डेकार लेना, उन्मीलन—आंखें मूंदना खोलना, क्षुत्कार भूखलंगना और जृम्भण—जम्हाईको कहते हैं ।

\* दशप्राणायामका विषय शिव-संहितामें जिसप्रकार लिखा है, वह यहां दिया जाता है,—

दृद्यस्ति पङ्कजं दिव्य दिव्यलिङ्गेन भूषितं ।

कादिठान्ताक्षरोपेतं द्वादशाक्षं विभूषितं ।



सर्वे ते सूर्य्यसंभिन्ना नाभिमूलात् समुद्धरेत् ।  
 इडया रेचयेत् पश्चात् धैर्य्येणाखण्डवेगतः ॥६५॥  
 पुनः सूर्य्येण चाकृष्य कुंभयित्वा यथाविधि ।  
 रेचयित्वा साधयेत्तु क्रमेण च पुनः पुनः ॥६६॥

कुम्भक करनेके समय उल्लिखित प्राणादि वायुओंको पिङ्गला नाड़ी द्वारा विभिन्न करते हुए नाभिके मूलदेशमें समान वायुको उत्तोलित करना चाहिये । इसके उपरान्त धैर्य्यके साथ धीरे धीरे वामनासिकापुट द्वारा रेचन करना चाहिये । फिर दक्षिण नासापुटसे वायुको पूरण करते हुए सुषुम्नामें कुम्भककर फिर वामनासापुटसे रेचन करे । बार बार इसी प्रकार करना चाहिये । ( इसे ही सूर्य्यभेद कुम्भक कहते हैं ) ॥ ६५—६६ ॥

प्राणो वसति तत्रैव वासनाभिरलङ्कृतः  
 अनादिकर्मसंस्तुष्टः प्राप्याहङ्कारसंयुतः ।  
 प्राणस्य वृत्तिभेदेन नामानि विविधानि च ।  
 वर्त्तन्ते तानि सर्वाणि कथितुं नैव शक्यते ।  
 प्राणोऽपानः समानश्चोदनो व्यानश्चपञ्चमः ।  
 नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ।  
 दशनामानि मुख्यानि मयोक्तानीह शास्त्रतः ।  
 कुर्वन्ति तेऽत्र कार्याणि प्रेरितानि स्वकर्मभिः ।  
 अत्रापि वायवः पञ्च मुख्याः स्युर्दशतः पुनः ।  
 तत्रापि श्रेष्ठकर्त्तारौ प्राणापानौ मयोदितौ ।  
 हृदिप्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले ।  
 उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्व्वशरीरगः ।



कुम्भकः सूर्यभेदस्तु जरांमृत्युविनाशकः ।  
बोधयेत् कण्डलीं शक्तिं देहानलं विवर्द्धयेत् ॥  
इति ते कथितं चण्ड सूर्यभेदनमुत्तमम् ॥६७॥

यह सूर्यभेद नामक कुम्भक जरा और मृत्युका विनाश  
कर देता है । इससे कुण्डलिनी शक्ति प्रबोधित होती है और  
देहस्थ अग्निकी वृद्धि होती है । हे चण्ड ! यह मैंने तुमसे  
अनुत्तम सूर्यभेद नामक कुम्भक कहा ॥ ६७ ॥

अथ ऊर्ज्जायीकुम्भकः ।

नासाभ्यां वायुमाकृष्य वायु वक्त्रेण धारयेत् ।  
हृद्गलाभ्यां समाकृष्य सुखमध्ये च धारयेत् ॥६८॥

वहिस्थित वायुको दोनों नासिका द्वारा और अन्तस्थ  
वायुको हृदय और गलप्रदेश द्वारा खींचकर कुम्भकयोगसे  
मुखके भीतर धारण करना चाहिये ॥ ६८ ॥

नागादि वायवः पञ्च कुर्वन्ति ते च विग्रहे ।

उद्गारोन्मीलनं क्षुब्धं जृम्भा हिक्का च पञ्चमः ।

अनेन विधिना योवै ब्रह्माण्डं वेत्ति विग्रहं ।

सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिं ॥ ”

हृदयमें दिव्यलिङ्ग विभूषित दिव्य पद्म विराजित हैं, उस पद्मकी  
अवधि ठ. पर्यन्त बारह वर्ण अलङ्कृत हैं । अनादि कर्म वासना  
अहङ्कारसंयुक्त वासनालङ्कृत प्राण उस पद्ममें अविस्थित है । वृत्ति-  
भेदसे प्राणके नाम कितने ही हैं, उन सबका वर्णन करनेमें कोई  
समर्थ नहीं । उनमें प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म  
कृकर, देवदत्त और धनञ्जय, यह दश प्राण प्रधान हैं । यह सब



मुखं प्रक्षाल्य संवन्ध कुर्याञ्जलन्धरं ततः ।

आशक्ति कुम्भकं कृत्वा धारयेदविरोधतः ॥ ६६ ॥

इसके उपरान्त मुख धोकर जालन्धर बन्धका अनुष्ठान करना चाहिये । इस प्रकार शक्तिके अनुसार कुम्भककरके निर्विघ्न वायुको धारण करना चाहिये ॥ ६९ ॥

ऊर्जायीकुम्भकं कृत्वासर्वकार्याणि साधयेत् ।

न भवेत् कफरोगश्चक्रूरवायुरजीर्णकं ॥ ७० ॥

आमवातं क्षयं कासं ज्वरप्लीहा न विद्यते ।

जरामृत्युविनाशाय चोज्जापि साधयेन्नरः ॥ ७१ ॥

इसे ही उज्जायी कुम्भक कहते हैं । इसके प्रभावसे सभी काम सिद्ध होते हैं । और श्लेष्मारोग, दुष्टवायु, अजीर्ण, आमवात, क्षयरोग, कास, ज्वर, प्लीहा प्रभृति सभी रोग

अपने अपने स्थानपर कार्यसाधन करते हैं । इन दश प्राणोंमें प्रथमोक्त पांच प्रधान हैं, उनमें भी प्राण और अपान यह दोनों सबसे श्रेष्ठ हैं । प्राण हृदयदेशमें, अपान गुह्यमें, समानवायु नाभिमण्डलमें, उदान वायु कण्ठदेशमें और व्यानवायु सब शरीरमें प्रवाहित होती है, नागादि पांचो वायु भी देशमें अवस्थितिकर यथाक्रम उद्गार, उन्मीलन, जृम्भा और हिका इन पांच प्रकारके कामोंका साधन करते हैं । इस प्रकार जो मनुष्य ब्रह्माण्डस्वरूप देहतत्त्वको जानते हैं, वह सभी पापोंसे छुटकारा पाके विमुक्त हो परमागति पाते हैं ।



दूर होते हैं । जरा और मृत्युको नाश करनेके हेतु मनुष्य  
ऊर्ज्यायी कुम्भकका साधन करे ॥ ७० ॥ ७१ ॥

इति उच्चायीकुम्भकः ।

अथ शीतलीकुम्भकः ।

जिह्वा वायुमाकृष्य उदरे पूरयेच्छनैः ।

क्षणश्चकुम्भकं कृत्वा नासाभ्यां रेचयेत् पुनः ॥ ७२ ॥

जिह्वा द्वारा वायुको खींच कुम्भकयोगसे धीरे धीरे उदरमें  
वायुको परिपूरित करना चाहिये । इसके उपरान्त कुछ देर-  
तक वायुको धारणकर दोनों नाकोंसे रेचन करना चाहिये ।  
इसे ही शीतलीकुम्भक कहते हैं ॥ ७२ ॥

सर्वदासाधयेद्योगी शीतलीकुम्भकं शुभं ।

अजीर्णं कफपित्तञ्च नैवतस्य प्रजायते ॥ ७३ ॥

साधकों सदा इस कल्याणप्रद शीतलीकुम्भकका अनुष्ठान  
करना चाहिये । इसका साधन करनेसे अजीर्ण, कफरोग और  
पित्तजात सभीरोगोंका विनाश होता है ॥ ७३ ॥

इति शीतलीकुम्भकः ।

अथ भस्त्रिकाकुम्भकः ।

भस्त्रैव लौहकाराणां यथाक्रमेण संभ्रमेत् ।

ततोवायुञ्च नासाभ्यामुभाभ्यां चालयेच्छनैः ॥ ७४ ॥



लोहारके भाँतीसे जैसी वायु आकृष्ट होती है, वैसे ही नाकसे वायु खींचके धीरे धीरे उदरमें परिचालित करना चाहिये ॥ ७४ ॥

एवं विंशतिवारञ्च कृत्वा कुर्याच्चकुम्भकं ।  
तदन्ते चालयेद्वायुं पूर्वोक्तञ्च यथाविधि ॥ ७५ ॥  
त्रिवारं साधयेदेनं भस्त्रिकाकुम्भकं सुधीः ।  
न च रोगं न च क्लेशमारोग्यञ्च दिने दिने ॥ ७६ ॥

इस प्रकार बीसोबार वायुको परिचालित करते हुए कुम्भकयोगसे वायुको धारण करना चाहिये । इसके उपरान्त भस्त्रिका \* द्वारा जैसे वायु निकलती है, वैसे नाकसे वायु निकाल डाले । इसे ही भस्त्रिका कुम्भक कहते हैं । इसका यथा नियम तीनवार आचरण करना चाहिये । इसके प्रभावसे किसी प्रकारसे व्याधि या कष्ट उत्पन्न नहीं होता और दिन दिन आरोग्यविधान हांता है ॥ ७५ ॥ ७६ ॥

इति भस्त्रिकाकुम्भकः ।

अथ भ्रामरीकुम्भकः ।

अर्द्धरात्रिगते योगी जन्तुनां शब्दवर्जिते ।  
कण्ठोपिधाय हस्ताभ्यां कुर्यात् पूरककुम्भक ॥ ७७ ॥

रातका आधा अंश बीत जानेपर जिस स्थानमें किसी

---

\* भस्त्रिका—लोहारके आग जलानेकी भाथी ।



जीविका शब्द सुनाई देता न हो, वहाँ जाकर योगी अपने हाथसे अपने दोनों कान बन्दकर पुरक और कुम्भका अनुष्ठान करें ॥ ७७ ॥

शृणुयादक्षिणेकर्णे नादमन्तर्गतं शुभं ।

प्रथमं भिज्भी नादश्च वंशीनादं ततः परं ।

मेघभर्भरभ्रमरीघण्टाकांस्यन्ततः परं ।

तुरीभेरीमृदङ्गादिनिनादानकदुन्दुभिः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार कुम्भकका अनुष्ठान करनेसे साधक दाहिने कानसे नानाविध शब्द सुनेंगे; वह सब शब्द देहके भीतरसे समुदित होते हैं। सबसे पहले झिल्लीरव, इसके उपरान्त वंशीध्वनि, फिर मेघशब्द, इसके उपरान्त झर्झरी नामक बाजा और फिर भ्रमरका गुन् गुन् शब्द सुनाई देगा। अन्तमें यथाक्रम घण्टा, कांस्य, तुरी, भेरी, मृदङ्ग, दुन्दुभि प्रभृतिका शब्द सुनाई देगा ॥ ७९ ॥

एवं नानाविधं नादं जायतेनित्यमभ्यसात् ।

अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः ॥ ८० ॥

इस प्रकार प्रतिदिन तरह तरहकी ध्वनि सुनाई देंगी। अन्तमें हृदस्थित अनाहताख्यद्वादशदल-विशिष्ट कमलके मध्य भागसे शब्द और उस शब्दसे उत्पन्न प्रतिशब्द सुनाई देगा ॥ ८० ॥

ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिरन्तर्गतं मनः ।

तन्मनो विलयं पाति तद्विष्णो परमं पदं ।

एवंभ्रामरी संसिद्धः समाधिसिद्धिमाप्नुयात् ॥ ८१ ॥



इसके बाद साधकको आंखें मूंदकर हृदयमें उस द्वादश  
दल कमलकी प्रतिध्वनिके भीतरकी ज्योतिको देखना चाहिये।  
वही ज्योति परब्रह्म है। योगीका मन उस ब्रह्ममें संयोजित  
हो ब्रह्मरूपी विष्णुके परमपदमें लयको प्राप्त होता है। इस  
प्रकार भ्रामरी कुम्भक सिद्ध होता है। भ्रामरी कुम्भकके  
सिद्ध होते ही समाधिकी सिद्धि होती है ॥ ८१ ॥

इति भ्रामरीकुम्भकः ।

अथ मूर्च्छाकुम्भकः ।

सुखेन कुम्भकं कृत्वा मनश्च भ्रूवोरन्तरं ।  
संत्यज्य विषयान् सर्वान् मनोमूर्च्छां सुखप्रदा ।  
आत्मनि मनसोयोगादानन्दं जायते ध्रुवं ॥ ८२ ॥

सुखपूर्वक मनको दोनों भ्रूके मध्यमें लगाके कुम्भक करे  
और विषयोंसे मनको हटाले और मनको सुख पूर्वक मर्च्छितके  
समान करना चाहिये, योगप्रभावसे आत्मामें मनको लगानेसे  
आनन्द उत्पन्न होता है ॥ ८२ ॥

इति मूर्च्छाकुम्भकः ।

अथ केवलीकुम्भकः ।

हंकारेण वहिर्याति सः कारेण विशेत् पुनः ।



षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः ।

अजपा नाम गायत्री जीवो जपति सर्वदा ॥८३॥

श्वासवायुके निकालने और प्रवेशित करानेके समय “हं” और “सः” उच्चारित होता है, अर्थात् जब श्वासवायु बाहर निकलती है, तब सःकार उच्चारण होता है । जीव दिनरातमें एकीसहजार छःसौ बार इस हंस शब्दका जप करता है । अर्थात् एकदिन एकरातमें २१६०० बार श्वासवायु निकलती और प्रविष्ट होती है ॥ ८३ ॥

मूलाधारे यथा हंसस्तथाहि हृदिपङ्कजे ।

तथा नासापुटद्वन्द्वे त्रिविधं संगमागमं ॥८४॥

मूलाधार अर्थात् गुह्य और लिङ्गमूलका मध्यगत स्थल, हृदयपद्म अर्थात् अनाहत नामक पद्म और नासापुटद्वय अर्थात् इड़ा और पिङ्गला नाड़ी, इन तीनों स्थानों द्वारा हंसः रूप अजपाजप होता है ; अर्थात् इन तीन स्थानों द्वारा ही श्वास-वायुका समागम होता है ॥ ८४ ॥

षष्ठवत्यङ्गुलीमानं शरीरं कर्मरूपकं ।

देहाद्वहिर्गतो वायुः स्वभावो द्वादशाङ्गुलिः ॥८५॥

गायने षोडशाङ्गुल्या भोजने विंशतिस्तथा ।

चतुर्विंशाङ्गुलीः पान्थः निद्रायां त्रिंशदङ्गुलिः ॥

मैथुनेषट्त्रिंशदुक्तं व्यायामे च ततोधिकं ॥ ८६ ॥

इस श्वासवायुके वहिर्भागकी गतिका कर्मरूप परिमाण छानवे उंगली समझना चाहिये । इसकी स्वाभाविक गतिका



परिमाण बारह अंगुल है; गीतमें इसका परिणाम सोलह अंगुल, भोजनके समयका परिमाण बीस अंगुल, मार्ग चलनेमें इसका परिमाण चौबीस अंगुल, निद्रामें इसका परिमाण तीस अंगुल, मैथुनकर्ममें इसका परिमाण छत्तीस अंगुल और व्यायाममें इसका परिमाण उसकी अपेक्षा अधिक अंगुल होता है ॥ ८६ ॥

स्वभावेऽस्य गतेन्यने परमायुः प्रवर्द्धते ।

आयुक्षयोह्यधिके प्रोक्तो मारुते चान्तुराद्गते ॥ ८७ ॥

श्वासवायुके स्वाभाविक वहिर्देशकी गतिका परिमाण बारह अंगुल है; यह पहले ही कहा जा चुका है । यदि वह बारह अंगुलसे कम हो, तो परमायु बढ़ती है और यदि वह बारह अंगुलसे अधिक हो, तो परमायु घटती है ॥ ८७ ॥

तस्मात् प्राणेस्थिते देहे मरणां नैव जायते ।

वायुना घटसम्बन्धे भवेत् केवल कुम्भकं ॥ ८८ ॥

जबतक देहमें प्राणवायु रहता है, तबतक किसी प्रकार मरनेकी सम्भावना नहीं है । प्राणवायु कुम्भकसाधनके विषयमें प्राणवायुको ही मूल कारण समझना चाहिये ॥ ८८ ॥

यावज्जीवो जपेन्मन्त्रमजपासंख्य केवलं ।

अद्यावधि घृतं संख्या विभ्रमं केवलीकृते ॥ ८९ ॥

अतएवहि कर्त्तव्यः केवलीकुम्भको नरैः ।

केवली च जपा संख्या द्विगुणा च मनोन्मनी ॥ ९० ॥

जीव देह धारणकर जबतक जीवित रहे, तब तक यथा-



विहित परिमितसंख्या अजपामन्त्रका जपकरे । देहके भीतर प्राणवायुके समागमसं ही केवली कुम्भक साधित होता है । इसमें केवल कुम्भकमात्र ही है, पूरक यारेचक नहीं है ८९-९०

नासाभ्यां वायुमाकृष्य केवलं कुम्भकश्चरेत् ।

एकाहिकंचतुःषष्टिं धारयेत् प्रथमेदिने ॥ ९१ ॥

नासापुट द्वारा वायुको खींचकर केवल कुम्भकका अनुष्ठान करना चाहिये । पहले दिन : इस कुम्भकका साधन करनेके लिये एकसे चौसठ मात्रातक श्वासवायुको धारण करना चाहिये ॥ ९१ ॥

केवलीमष्टधाकुर्याद् यामे यामे दिने दिने ।

अथवा पञ्चधा कुर्याद् यथा तत् कथयामि ते ॥९२॥

प्रातर्मध्याह्न सायाह्ने मध्ये रात्रिचतुर्थके ।

त्रिसन्ध्यमथवा कुर्यात् सममाने दिने दिने ॥९३॥

इस केवली कुम्भकका प्रतिदिन आठ पहरतकः आठवार साधन करना अथवा प्रतिदिन पांचवार साधन करना चाहिये अर्थात् प्रातःकाल, मध्याह्न, सन्ध्या, अर्धरात्रि और रात्रिके अन्तिम भागमें साधन करना चाहिये । इसके अतिरिक्त प्रातःकाल, मध्याह्न और सन्ध्या समय इस तीन समयमें समान-संख्याका साधन किया जा सकता है ॥ ९२ ॥ ९६ ॥

पञ्चवारं दिने बृद्धिर्वारैकश्च दिने तथा ।

अजपापरिमाणञ्च यावत् सिद्धिः प्रजायते ॥९४॥

जबतक केवली कुम्भक सिद्ध न हो, तबतक प्रतिदिन



अजपाजपके परिमाणसे एक या पांच बार क्रमसे बढ़ाना चाहिये ॥ ९४ ॥

प्राणायामं केवलीञ्च तदा वदति योगवित् ।  
कुम्भके केवली सिद्धौ किं न सिद्ध्यति भूतले ॥ ९५ ॥

जिन साधकने केवली कुम्भकका साधन किया है, वह यथार्थ योगी हैं । केवलीकुम्भक साधित होनेसे संसारमें कुछ असाध्य नहीं रहता ॥ ९५ ॥

इति केवली कुम्भकः ।

इति श्रीधेरण्डसंहितायां धेरण्डचण्ड संवाद  
घटस्थयोगप्रकरणे प्राणायामप्रयोगोनाम  
पञ्चमोपदेशः ।





→॥ श्रीः ॥←

## षष्ठोपदेशः



अथ ध्यानयोगः ।

श्रीघेरण्ड-उवाच ।

स्थूलं ज्योतिस्तथा सूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधं विदुः  
स्थूलं मूर्त्तिमयं प्रोक्तं ज्योतिस्तेजोमयं तथा ।  
सूक्ष्मं विन्दुमयं ब्रह्म कुण्डली परदेवता ॥ १ ॥

श्रीघेरण्डने कहा,—“ ध्यान तीन प्रकारके हैं,—स्थूल-  
ध्यान, ज्योतिर्ध्यान और सूक्ष्मध्यान । जिसमें मूर्त्तिमान्  
किसी देव या परम गुरुकी चिन्ता की जाँती है, उसे स्थूल-  
ध्यान कहते हैं । जिसमें तेजोमय ब्रह्मका ध्यान किया जाता  
है, उसे ज्योतिर्ध्यान कहते और जिस ध्यानसे विन्दुमय ब्रह्म  
और कूण्डलिनी शक्तिका दर्शन मिलता है, उसे सूक्ष्मध्यान  
कहते हैं ॥ १ ॥

अथ स्थूलध्यानम् ।

स्वकीयहृदये ध्यायेत् सुधासागरमुत्तमम् ।  
तन्मध्ये रत्नद्वीपन्तु सुरत्नवालुकामयं ॥ २ ॥



साधक आखे मूँदकर अपने हृदयमें इस प्रकारकी चिन्ता करें, कि अनुत्तम अमृत-सागर सामने है। उस समुद्रमें एक रत्नमय द्वीप विराजित है। उस द्वीपमें रत्नमय बालुकारा-शि फैलकर अपूर्व शोभा सम्पादन कर रही है ॥ २ ॥

चतुर्दिक्षु नीपतरुर्वक पुष्पसमन्वितः ।

नीपोपवनसंकुले वेष्टितं परिखा इव ॥ ३ ॥

मालतीमल्लिका जाती केशरैश्चम्पकैस्तथा ।

परिजातैः स्थलैः पद्मोर्गन्धा मोदितदिङ्मुखैः ॥ ४ ॥

उस रत्नद्वीपकी चारोओर कदम्बतरु, अपूर्व शोभा दे रहे हैं। कदम्बकुसुमके विकसित होनेसे वृक्षोंकी शोभाकी सीमा नहीं है। कदम्ब काननकी चारोओर मालती, मल्लिका जाती, नागकेशर, बकुल, चम्पा, पारिजात, स्थलपद्म प्रभृति भाँति भाँतिके वृक्ष परिखाकी तरह उस द्वीपको घेरे हुए हैं। उन सब वृक्षोंकी सुगन्धिसे दशोदिशा परिपूर्ण होती है ॥ ३-४ ॥

तन्मध्ये संस्मरेद्योगी कल्पवृक्षं मनोहरं ।

चतुःशाखाचतुर्वेदं नित्यपुष्पफलान्वितं ॥ ५ ॥

योगी मन ही मन इस प्रकारकी चिन्ता करें, कि उस कावनके मध्यभागमें मनोहर कल्पवृक्ष विराजित हैं। उसकी चार शाखायें हैं, वह चारो शाखायें चतुर्वेदमय हैं; उस वृक्षकी शाखासमूहमें सर्वदा फूल और फल लगे रहते हैं ॥ ५ ॥

भ्रमराः कोकिलास्तत्र गुञ्जन्ति निगदन्ति च ।

ध्यायेत्तत्र स्थिरो भूत्वा महामाणिक्यमण्डपं ॥ ६ ॥



उन वृक्षकी शाखाओंपर भ्रमरगण शब्दकर रहे हैं और कोकिल समूह शाखाओंपर बैठके मनोहर शब्द कर रहे हैं । योगी ऐसी ही चिन्ता करें, कि उस कल्पतरुके नीचे महा-माणिक्य निर्मित एक मण्डप परम शोभायमान है ॥ ६ ॥

तन्मध्ये तु स्मरेद्योगी पर्यङ्कं सुमनोहरं ।  
बत्रेष्टदेवतां ध्यायेद् यच्चानं गुरुभाषितं ॥ ७ ॥

यस्य देवस्य यद्रूपं यथा भूषणवाहनं ।

बद्रूपं ध्यायते नित्यं स्थूलध्यानं मिदं विदुः ॥ ८ ॥

इसके उपरान्त योगी इस प्रकारकी चिन्ताकरें, कि उस मण्डपमें मनोहर पर्यङ्क विराजित है । इस पर्यङ्कके ऊपर अपने अभीष्टदेव विराज रहे हैं । गुरुदेवने जिस प्रकार अभीष्ट देवका ध्यान,—रूप, भूषण, वाहन प्रभृति बताया है, योगी वैसा ही ध्यान करें; इसे ही स्थूल ध्यान कहते हैं ॥ ७ ॥ ८ ॥

### प्रकारान्तरं ।

सहसारे महापद्मे कर्णिकायां विचिन्तयेत् ।

विलम्बसहितं पद्मं द्वादशोर्दलसंयुतं ॥ ९ ॥

अब दूसरे प्रकारका स्थूल ध्यान कहा जाता है; ब्रह्मरन्ध्रमें एक सहस्रदल महापद्म विराजित हैं । योगी ऐसी चिन्ता करें, कि उस पद्मके बीजकोषमें और भी एक द्वादशदल विशिष्ट पद्मविराजित है ॥ ९ ॥

शुक्लवर्णं महातेजो द्वादशैर्वीजभाषितं ।

हंसक्षसलवरयुं हसखर्णं यथाक्रमं ॥ १० ॥



वह द्वादशदल कमल सफेद और परमतेजमय है । उस कमलके द्वादशदलमें यथाक्रम, ह स क्ष म ल व र युं ह स ख फ्रे यह बारहो बीज विराजित हैं ॥ १० ॥

तन्मध्ये कर्णिकायान्तु अकथादि रेखात्रयं ।

हलक्ष कोणसंयुक्तं प्रणवं तत्र वर्त्तते ॥ ११ ॥

उस द्वादशदल कमलकी कर्णिकामें अ क थ यह तीनो वर्ण तीन रेखामें और ह ल क्ष यह तीनो वर्ण तीन कोनेमें सलभ हैं और मध्यमार्गमें प्रणव अर्थात् “ ॐ ” विद्यमान है ॥ ११ ॥

नादविन्दुमयं पीठं ध्यायेत्तत्र मनोहरं ।

तत्रोपरि हंसयुग्मं पादुका तत्र वर्त्तते ॥ १२ ॥

योगी इस प्रकारकी चिन्ता करें, कि उस स्थानमें सुमनोहर नादविन्दुमय एक पीठ विद्यमान है । उस पीठपर दो हंस विराजित हैं और वहां ही पादुका विद्यमान है ॥ १२ ॥

ध्यायेत्तत्र गुरुं देवं द्विभुजश्च त्रिलोचनं ।

श्वेताम्बरधरं देवं शुक्लगन्धानुलेपनं ॥ १३ ॥

शुक्लपुष्पमयं माल्यं रक्तशक्तिसमन्वितं ।

एवम्विधигुरुर्ध्यानात् स्थूलध्यानं हिसिध्यति ॥ १४ ॥

योगी चिन्ता करें, कि वहां गुरुदेव विराजित हैं । वह दो भुजवाले, त्रिनेत्र और शुक्लाम्बरधारी हैं । उनकी देह शुक्ल गन्धसे अनुलिप्त है और उनके गलेमें सफेद पुष्पोंसे गुथी माला विराजित है । और रक्तवर्ण शक्तिसहित शोभा-



यमान है । इस प्रकार गुरुकी ध्यान करनेसे ही स्थूलध्यान सिद्ध होता है ॥ १७ ॥ १८ \*

## इति स्थूलध्यानम् ।

\* विश्वसार-तन्त्रमें लिखा है,—

“ प्रातः शिरसि शुक्लेब्जे द्विनेत्रं द्विभुजं गुरुं ।

वराभयकरं शान्तं स्मरेत्तन्नामपूर्वकं ॥ ”

अर्थात्—मस्तकपर जो सफेद कमल विराजित है, योगी प्रातः-काल उस पद्ममें गुरुदेवकी चिन्ता करें । वह शान्त, द्विभुज और द्विनेत्र हैं; उनके हाथमें वर और अभय विद्यमान है । ऐसी चिन्ताको ही स्थूल ध्यान कहते हैं ।

कङ्कालमालिनी तन्त्रमें लिखा है—

“ सहस्रदलपद्मस्थं अन्तरात्मानमुज्ज्वलं ।

तस्योपरि नादविन्दोर्मध्ये सिंहासनोज्ज्वले ॥

तत्र निजं गुरुं नित्यं रजताचलसन्निभं ।

वीरासन समासीनं सर्वभरण भूषितं ।

शुक्लमाल्याम्बरधरं वरदाभयपाणिनं ।

वामोरु शक्ति सहितं कारुण्येनावलोकितं ।

प्रियया सव्यहस्तेन धृतचारुकलेवरं ।

वामेनोत्पलधारिण्या रक्ताभरणभूषया ।

ज्ञानानन्द समायुक्तं स्मरेत्तन्नामपूर्वकं ॥ ”

अर्थात्,—योगी इस प्रकारकी चिन्ता करें, कि सहस्रदल-कमलमें प्रदीप्त अन्तरात्मा अधिष्ठित हैं । उसके ऊपर नादविन्दुके मध्यमें उज्ज्वल सिंहासन विद्यमान है । उस सिंहासनपर वीरासनसे इष्टदेव विराजित हैं । उनकी देह रजताचलकी तरह सफेद है, वह विविध आभरणसे विभूषित और शुक्लमाल्य तथा शुक्लाम्बरधारी



## अथ ज्योतिर्ध्यानम् ।

कथितं स्थूलध्यानन्तु तेजोध्यानं शुण्ण्वमे ।

यच्चेनेन योगसिद्धिरात्मप्रत्यक्षमेव च ॥ १५ ॥

श्रीधरण्डने कहा,— हे क्षण्ड ! स्थूलध्यान कहा गया, अब तेजोध्यान ( ज्योतिर्ध्यान ) सुना । इस ध्यानसे योगकी सिद्धि और आत्माके प्रत्यक्षताकी शक्ति उत्पन्न होती है ॥ १५ ॥

मूलाधारे कुण्डलिनी भुजगाकार रूपिणी ।

जीवात्मा तिष्ठति तत्र प्रदीपकालिकाकृति ।

ध्यायेत्तेजोमयं ब्रह्मतेजोध्यानं परापरं ॥ १६ ॥

मूलधार अर्थात् गुह्यप्रदेश और लिङ्गमूलके मध्यगत-स्थानमें कुण्डलिनी भुजगाकारसे विद्यमान है । उस स्थानमें जीवात्मा दीपकालिकांकी तरह अवस्थित है । वहाँ ज्योतिरूपी ब्रह्मका ध्यान करना चाहिये । इस ही तेजोध्यान या ज्योतिर्ध्यान कहते हैं ॥ १६ ॥

हैं । उनके हाथमें वर और अभय विद्यमान हैं, उनके बाँये ऊरुपर शक्ति विराजमाना हैं । गुरुदेव करुणादृष्टिसे देख रहे हैं, प्रियतमा शक्ति दाहिनेहाथसे उनका मनोहर शरीर धारण किये हैं । उन शक्ति के बाँये हाथमें लालपद्म है और वह रक्ताभरणसे विभूषिता है । इस प्रकार उन ज्ञानानन्दसमायुक्त गुरुकानाम स्मरणकर उनका ध्यान करना चाहिये । इसे ही स्थूल ध्यान कहते हैं ।



## प्रकारान्तरम् ।

भ्रुवोर्मध्ये मनोर्द्ध्वे च यत्तेजः प्रणवात्माकं ।  
ध्यायेज्ज्वालावलीयुक्तं तेजोध्यानं तदेवहि ॥१७॥

दूसरे प्रकारका तेजोध्यान कहा जाता है,—दोनों भौंहोंके मध्यमें और मनके ऊर्ध्वभागमें जो ओङ्कारमय ओर शिखामालासमान्वित ज्योति विद्यमान है, उस ज्योतिको ब्रह्म समझकर उसका ध्यान करना चाहिये । इसे ही तेजोध्यान वा ज्योतिर्ध्यान कहा जाता है ॥ १७ ॥

इति ज्योतिर्ध्यानम् ।

## अथ सूक्ष्मध्यानम् ।

तेजोध्यानं श्रुतं चण्ड सूक्ष्मध्यानं वदान्यहं ।  
बहुभाग्यवशाद् यस्य कुण्डली जाग्रती भवेत् ॥१८॥  
आत्मनः सन्नयोगेन नेत्ररन्ध्राद्विनिर्गते ।  
विभ्रमेद् राजमार्गे च चञ्चलत्वान्न दृश्यते ॥ १९ ॥

श्रीचरण्डनं कंहा,—“हे चण्ड ! तुमने ज्योतिर्ध्यान सुना; अब मैं सूक्ष्मध्यान कहता हूँ, सुनो । बड़ भाग्यसे साधक-की कुण्डलिनी शक्ति जागकर आत्माके साथ मिलके नेत्ररन्ध्र पथसे निकलकर ऊर्ध्वभागके राजमार्ग नामके स्थलमें घूमती है । सूक्ष्मत्व और चाञ्चल्यवश ध्यानयोगसे उस कुण्डलिनीको देखा नहीं जा सकता ॥ १८ ॥ १९ ॥



शाम्भवीमुद्रयायोगी ध्यानयोगेनसिध्यति ।

सूक्ष्मध्यानमिदं गोप्यं देवनामपिदुर्लभं ॥ २० ॥

योगी शाम्भवी मुद्राका अनुष्ठान करके कुण्डलिनीका ध्यान करें । इसीका नाम सूक्ष्मध्यान है । यह ध्यान बहुत ही गोपनीय और सुरगणके लिये भी दुष्प्राप्य है ॥ २० ॥

स्थूलध्यानाच्छतगुणं तेजोध्यानं प्रचक्षते ।

तेजोध्यानास्त्रचगुणं सूक्ष्मध्यानं विशिष्यते ॥ २१ ॥

स्थूलध्यानसे ज्योतिर्ध्यान सौगुना प्रधान है और ज्योतिर्ध्यानसे सूक्ष्मध्यान लक्षण श्रेष्ठ है ॥ २१ ॥

इतिते कथितं चण्ड ध्यानयोगं सुदुर्लभं ।

आत्मसाक्षाद् भवेत् यस्मात्तस्माध्यानं विशिष्यते ॥

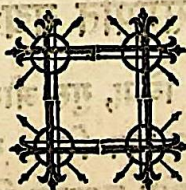
श्रीधेरण्डने कहा,—“ हे चण्ड ! यह मैंने तुमसे दुर्लभ ध्यानयोग कहा । जिससे आत्मका साक्षात्कार मिलता है, उससे ही ध्यानकी सिद्धि होती है ॥ २२ ॥

इति सूक्ष्मध्यानम् ।

इति श्रीधेरण्डसंहितायां धेरण्डचण्डसंवादे घटस्थयोग

सप्तमसाधने ध्यानयोगो नाम षष्ठोपदेशः ।

॥ १ ॥





ॐ श्रीः ॐ

## ॥ सप्तमोपदेशः ॥



अथ समाधियोगः ।

घेरण्ड-उवाच ।

समाधिश्च परं योगं बहुभाग्येन लभ्यते ।

गुरोः कृपाप्रसादेन प्राप्यते गुरुभक्तितः ॥ १ ॥

बड़े ही सौभाग्यसे समाधि नामक परम योग मिलता है । गुरुदेवकी कृपा और उनकी प्रसन्नताके साधित होनेपर और उनके प्रति अचला भक्ति रहनेसे ही उक्त योग मिलता है ॥ १ ॥

विद्याप्रतीतिः स्वगुरुप्रतीति-

रात्मप्रतीतिर्म्मनसः प्रबोधः ।

दिने दिने यस्य भवेत् सयोगी,

सुशोभनाभ्यासमुपैति सद्यः ॥ २ ॥

जिसकी दिन दिन विद्या, गुरु और आत्मापर प्रतीति उत्पन्न होती है और दिन दिन जिस योगीके मनको बोध होता जाता है, समाधियोग साधनके लिये ठीक अभ्याससे बड़ी शीघ्र अधिकारी होते हैं ॥ २ ॥



घटाद्भिन्नं मनः कृत्वा ऐक्यं कुर्यात् परात्मनि ।  
समाधिं तद् विजानीयान्मुक्तसंज्ञो दशादिभिः ॥३॥

शरीरसे मनको भिन्नकर परमात्माके साथ एक होना चाहिये । इसे समाधि कहते हैं । इससे सभी अवस्थाओंमें ही मोक्ष मिलता है ॥ ३ ॥

अहं ब्रह्म न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक् ।  
सच्चिदानन्दरूपोहहं नित्यमुक्तः स्वभाववान् ॥४॥

जो योगी समाधियोगका साधन करते हैं, उनको इस प्रकारका ज्ञान होना चाहिये, कि मैं स्वयं ब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्मसे अलग नहीं, मैं शोक रहित, नित्यमुक्त स्वभाववान् हूँ \* । मैं सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ † इस प्रकारके ज्ञानका सञ्चार होनेसे ही योगीको समाधिसिद्ध कहा जाता है ॥ ४ ॥

शाम्भव्याचैव खेचर्या भ्रामर्या योनिमुद्रया ।  
ध्यानं नादं रसानन्दं लयसिद्धिश्चतुर्विधा ॥ ५ ॥  
पञ्चधाभक्तियोगेन मनोमूर्च्छाच षड्विधा ॥  
षड्विधोऽयं राजयोगः प्रत्येकमवधारयेत् ॥६॥

समाधि योग छः प्रकारके हैं । ध्यानयोग-समाधि, नादयोग-समाधि, रसानन्दयोग-समाधि, लयसिद्धियोग-समाधि, भक्तियोग-समाधि और राजयोग-समाधि । शाम्भवीमु-

\* स्वभाववान्—अर्थात् ब्रह्मप्रकृतिस्थ ।

† सच्चिदानन्दस्वरूप—अर्थात् सत्यमय, ज्ञानमय, नित्यानन्दमय ।



द्राका अवलम्बन करनेसे ध्यानयोग-समाधि, खेचरीमुद्राका अवलम्बन करनेसे नादयोग-समाधि, ध्रामरी नामक कुम्भकका अवलम्बन करनेसे रसानन्दयोग-समाधि, योनिमुद्राका अवलम्बन करनेसे लयसिद्धियोग-समाधि, भाक्तिका अवलम्बन करनेसे भक्तियोग-समाधि और मनोमूच्छा नामक कुम्भकका अनुष्ठान करनेसे राजयोगसमाधिका आचरण किया जाता है ॥ ६ ॥

## अथ ध्यानयोगसमाधिः ।

शाम्भवीं मुद्रिकां कृत्वा आत्मप्रत्यक्षं मानयेत् ।

विन्दुब्रह्म सकृद्दृष्ट्वा मनस्तत्र नियोजयेत् ॥ ७ ॥

सबसे पहले शाम्भवी मुद्राका अनुष्ठानकरके आत्माको प्रत्यक्ष करना चाहिये । इसके उपरान्त विन्दुमय ब्रह्मका दर्शन करके उस विन्दुस्थलमें मनको नियोजित करना चाहिये ।

स्वमध्ये कुरु चात्मानं आत्ममध्येच खं कुरु ।

आत्मानं स्वमयं दृष्ट्वा न किञ्चिदपि बाध्यते ।

सदानन्दमयो भूत्वा समाधिस्थो भवेन्नरः ॥ ८ ॥

इसके उपरान्त शिरस्थित ब्रह्मलोकमय आकाशके मध्यमें जीवात्माको लाना चाहिये और शिरस्थित ब्रह्मलोकमय आकाशको जीवात्मामें लाना चाहिये । इस प्रकार जीवात्माको परमात्मामें विलीन करके नित्यानन्दमय और मुक्तहोना चाहिये, इसे ही ध्यानयोग-समाधि कहते हैं ॥ ८ ॥

इति ध्यानयोग-समाधि कथनम् ।



## अथ नादयोग-समाधिः ।

साधनात् खेचरी मुद्रा रसनोद्धगता सदा ।

तदा समाधिसिद्धिः स्याद्भुक्त्वा साधारणक्रियां ॥ ९ ॥

खेचरीमुद्राके अनुष्ठान द्वारा रसनाको ऊर्ध्वगामी बनाना चाहिये । ( अंथीतं तालु कुहरमंजो अमृतकूप विद्यमान है, उस जिह्वासे मिलाना चाहिये । ) इससे और तरहोंकी साधारण क्रिया छोड़नेसे समाधिकी सिद्धि होती है । इसे ही नादयोगसमाधि कहते हैं ॥ ९ ॥

इति नादयोगसमाधि कथनम् ।

## अथ रसानन्दयोगसमाधिः ।

अनिलं मन्दवेगेन भ्रामरीकुम्भकं चरेत् ।

मन्दं मन्दं रेचयेद्वायुं भृङ्गनादं ततोभवेत् ॥ १० ॥

भ्रामरी नामक कुम्भकका अनुष्ठान करके धीरे धीरे थोड़े वेगसे श्वासवायुको पारित्याग करना चाहिये । इस योगका साधन करनेसे देहके भीतर भौरैकी ध्वनिकी तरह शब्द सुनाई देता है ॥ १० ॥

अन्तःस्थं भ्रमरीनादं श्रुत्वातत्र मनो नयेत् ।

समाधिर्जायते तत्र आनन्दः सोऽहमित्यतः ॥ ११ ॥

देहके भीतरसे जहांसे यह शब्द होता है, मनको उसी स्थानमें नियुक्त करना चाहिये । इसे ही रसानन्दयोग-समाधि



कहते हैं । इस योग द्वारा “ सोऽहं ” ( मैं ही वह ब्रह्म हूँ )  
ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है । सुतराँ योगी नित्य परम आनन्द  
रसका उपभोग करते हैं ।

इति रसानन्दयोगसमाधिः ।

अथ लयसिद्धियोगसमाधिः ।

योनिमुद्रां समासाद्य स्वयं शक्तिमयो भवेत् ।  
सुशृङ्गाररसेनैव विहरेत् परमात्मनि ॥ १२ ॥  
आनन्दमयः संभूत्वा ऐक्यं ब्रह्मणि सम्भवेत् ।  
अहं ब्रह्मेति वाद्वैतं समाधिस्तेन जायते ॥ १३ ॥

पहले योगी योनिमुद्राका अनुष्ठान करके अपनेको  
शक्तिस्वरूप समझें, अर्थात् अपनेको स्त्री और परमात्माको  
पुरुषस्वरूप समझें । फिर मन ही मन ऐसा विचार करना  
चाहिये, कि पुरुषस्वरूप परमात्माके साथ स्त्रीस्वरूप अपना  
शृङ्गाररसमन्वित विहार सम्पादित हो रहा है । इसके उपरान्त  
ऐसा समझना चाहिये, कि उक्त विहार द्वारा जो परम  
आनन्दरस उत्पन्न होता है, मैं उस रसमें निमग्न हो परम  
ब्रह्मके साथ अभिवन्नरूपसे सम्मिलित हुआ हूँ । ” इस योग  
द्वारा ही “ मैं ब्रह्म, अद्वितीय हूँ । ” ऐसे ज्ञानका सञ्चार होता  
है । इस समाधिका लयसिद्धियोग कहते हैं ॥ १२ ॥ १३ ॥

इति लयसिद्धियोगसमाधिः ।



## अथ भक्तियोगसमाधिः ।

स्वकीयहृदये ध्यायेदिष्टदेवस्वरूपकं ।

चिन्तयेद् भक्तियोगेन परमाह्लादपूर्वकं ॥ १४ ॥

आनन्दाश्रुपुलकेन दशाभावः प्रजायते ।

समाधिः सम्भवेत्तेन सम्भवेच्च मनोन्मनि ॥ १५ ॥

अबालाभक्ति और परम आह्लादके साथ अपने हृदयके भीतर इष्टदेवकी चिन्ता करना चाहिये । इससे आनन्दाश्रु बहने लगता है, देह पुलकित होती और मन नित्यभावको प्राप्त होता है और इससे समाधि और उन्मनी अवस्था प्राप्त होती है । इसे भक्तियोग-समाधि कहते हैं ॥ १४ ॥ १५ ॥

इति भक्तियोगसमाधिः ।

## अथ राजयोगसमाधिः ।

मनोमूच्छा समासाद्य मन-आत्मनियोजयत् ।

परात्मनः समायोगात् समधिं समवाप्नुयात् ॥ १६ ॥

मनोमूच्छानामक कुम्भकका अनुष्ठान करके मनको परमात्माके साथ मिलना चाहिये । इस प्रकार परमात्माके संयोगवश समाधिकी सिद्धि पाई जाती है । इसे ही राजयोग समाधि कहते हैं ॥ १६ ॥

इति राजयोगसमाधिः ।



अथ समाधियोगमाहात्म्यम् ।

इति ते कथितं चण्ड समाधिं मुक्तिलक्षणं ।

राजयोगः समाधिः स्या देकात्मन्येव साधनं ।

उन्मनी सहजावस्था सर्वे चैकात्मवाचका ॥ १७ ॥

ह चण्डकापालं ! यह मैंने तुमसे मुक्तिका लक्षण समाधि-  
योग कहा । राजायोग समाधि, उन्मनी, सहजावस्था प्रभृति  
चाहे कोई योग क्यों न हो, सभी एकमात्र आत्मावाचक  
शब्द हैं ॥ १७ ॥

जले विष्णुः स्थले विष्णुर्विष्णुः पर्वतमस्तके ।

ज्वालामालाकुले विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत् १८

जल, स्थल, गिरिशृङ्ग, ज्वालामालाकुल अग्निराशि  
सभी जगह विष्णु विराजमान हैं । यह समस्त जगत्  
विष्णुमय है ॥ १८ ॥ \*

भूचराः खेचराश्चामी यावन्तो जीवजन्तुवः ।

वृक्षगुल्म लताबल्लीतृणाद्या वारिपर्वताः ।

सर्वं ब्रह्म विजानीयात्सर्वं पश्यति चात्मनि ॥ १९ ॥

भूचर, खेचर आदि सभी जीवजन्तु, वृक्ष, मूल, लता,  
बल्ली, तृण, जल, पर्वत सभी ब्रह्मस्वरूप हैं । जो मनुष्य  
योगी हैं, वह आत्मामें ही सब ब्रह्माण्डगत पदार्थोंको देखते  
हैं ॥ १९ ॥

\* विष्णुव्याप्तौ धातु हैं जिससे विष्णु शब्द बनता है इसलिये  
विष्णुशब्द ब्रह्म वाचक है ।



आत्मा घटयस्वैतन्यमद्वैतं शाश्वतं परं ।

घटादिभिन्नतो ज्ञात्वा वीतरोगो विवासनः ॥ २० ॥

जीवात्मा परमात्माका छायास्वरूप है । परमात्मा अद्वितीय शाश्वत और सर्वप्राधान हैं । मनुष्योंके पार्थिव शरीरमें जीवात्मारूपी परमात्माका अंश आवद्ध हो केवलमात्र शरीरके चैतन्यरूपमें ही अवस्थित होता है । परन्तु शरीरबन्धनसे विमुक्त होते ही वीतराग और वासनाशून्य हो फिर उस ब्रह्ममें सम्मिलित हो जाता है ॥ २० ॥

एवंविधः समाधिः स्यात् सर्वसङ्कल्पवर्जितः ।

स्वदेहे पुत्रदारादिवान्धवेषु धनादिषु ।

सर्वेषु निर्म्ममो भूत्वा समाधिं समवाप्नुयात् ॥ २१ ॥

इस प्रकार सर्वसङ्कल्प विहीन हो समाधिका साधन करना चाहिये । अपना शरीर, पुत्र, कलत्र, वान्धव, धन सभी विषयोंसे निर्म्मम हो समाधिका साधन करना चाहिये ॥ २१ ॥

तत्त्वं लयामृतं गोप्यं शिवोक्तं विविधानि च ।

तासां संक्षेपमादाय कथितं मुक्तिलक्षणं ॥ २२ ॥

देव देव महादेवने लयामृत प्रभृति कितने ही प्रकारके गोपनीय तत्त्व कहे हैं । उनसे सार संग्रहकर संक्षेपमें यह मुक्तिलक्षण कहा गया ॥ २२ ॥

इतिते कथितश्चण्ड समाधिर्दुर्लभः परः ।

यज् ज्ञात्वा न पुनर्जन्म जायते भूमिमण्डले ॥ २३ ॥



( १४२ )

हे चण्ड ! यह मैंने तुमसे परम दुर्लभ समाधि योगका विषय कहा । इस योगके जाननेसे फिर इस धरातलमें देह धारण नहीं करना पड़ता ॥ २३ ॥

इति श्रीघेरण्डसंहितायां घेरण्डचण्डसंवादे

घटस्थयोगसाधने समाधियोगो

नाम सप्तमोपदेशः ।

❀ समाप्त ❀



SRI JAGADGURU VISHWARADHYA  
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR  
LIBRARY,  
Jangamwadi Math, VARANASI

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA  
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR  
LIBRARY,

Jangamwadi Math, VARANASI,

Acc. No. ...

123

Acc. No. ....

720/231







